* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

वर्ष ८०

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या २

श्रीरामकथाके संदर्भमें शिव-पार्वती-संवाद

कल्याण

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०६२, श्रीकृष्ण-सं० ५२३१, फरवरी २००६ ई०

पूर्ण संख्या ९५१

श्रीरामतत्त्वके विषयमें पार्वतीजीकी जिज्ञासा

नमोऽस्तु ते देव जगन्निवास सर्वात्मदृक् त्वं परमेश्वरोऽसि।
पृच्छामि तत्त्वं पुरुषोत्तमस्य सनातनं त्वं च सनातनोऽसि॥
धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्वं यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्।
पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम्॥
त्वयाद्य भक्त्या परिनोदितोऽहं वक्ष्ये नमस्कृत्य रघूत्तमं ते।
रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि॥

[श्रीपार्वतीजी बोलीं—] हे देव! हे जगन्निवास! आपको नमस्कार है; आप सबके अन्तःकरणोंके साक्षी और परमेश्वर हैं। मैं आपसे श्रीपुरुषोत्तम भगवान‍्का सनातन तत्त्व पूछना चाहती हूँ, क्योंकि आप भी सनातन हैं।

[श्रीमहादेवजी बोले—] देवि! तुम धन्य हो, तुम परमात्माकी परम भक्त हो, जो तुम्हें रामका तत्त्व जाननेकी इच्छा हुई है। इससे पूर्व, इस परमगूढ़ रहस्यका वर्णन करनेके लिये मुझसे और किसीने नहीं कहा। आज तुमने मुझसे भक्तिपूर्वक प्रश्न किया है, इसलिये मैं श्रीरघुनाथजीकी वन्दना कर तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ। श्रीरामचन्द्रजी निःसन्देह प्रकृतिसे परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दघन, अद्वितीय और पुरुषोत्तम हैं। (अध्यात्मरामायण १।१।७, १६-१७)

~~~०~~~
~~~

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,३०,०००)

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०६२, श्रीकृष्ण-सं० ५२३१, फरवरी २००६ ई०

विषय-सूची

चित्र-सूची

वार्षिक शुल्क
भारतमें १३० रु०
सजिल्द १५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

[परिशिष्टाङ्क]

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org | ✆ (0551) 2334721

सदस्यता शुल्क—व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।

कल्याण

याद रखो—वास्तविक हित उसीका होता है और उसीको परिणाममें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है, जो सदा-सर्वदा दूसरोंके हितकी बात सोचता-करता है और सदा दूसरोंको सुखी बनानेके लिये ही प्रयत्नशील रहता है।

याद रखो—जो पुरुष दूसरोंके हित-सुखका सम्पादन अपना कर्तव्य समझेगा; स्वाभाविक ही उसके अन्त:करणमें त्याग, दया, सहानुभूति, सेवा, संयम तथा शुद्ध सदाचारके भावोंका उदय तथा संवर्धन होता रहेगा और जितना-जितना वह इन शुद्ध संस्कारित भावोंके अनुसार क्रिया करनेमें तत्पर होगा, उतना-उतना ही उसके इन पवित्र भावोंमें अधिकाधिक उत्कर्ष, शुद्धि, शक्ति तथा उल्लासमयी धाराका प्रवाह तीव्ररूपसे बहने लगेगा।

याद रखो—जिसके पास जो कुछ होता है, वह न चाहनेपर जगत्‌को सहज ही वही देता है, गुलाब सुगन्धका और मल दुर्गन्धका स्वभावसे ही वितरण करेगा और जिन वस्तुओंका जितनी दूरतक अधिक विस्तार होगा, उन्हींका अन्य लोगोंमें भी—उतनी ही दूरतक प्रभाव होगा, लोग वैसे ही बनने लगेंगे। अतएव जिनके हृदयमें सद्भावोंका भण्डार है तथा शुभ संस्कारोंका निवेश है, उनके द्वारा सदा सत्कर्म होते हैं, उन्हींका अन्य लोगोंमें भी प्रचार, प्रसार तथा विस्तार होता है—उनसे फिर दूसरोंमें। इस प्रकार अपना तथा जगत्‌के लोगोंका सहज ही कल्याण होता है। इसी प्रकार इसके विपरीत दुर्भावों तथा दुष्क्रियाओंसे अपना तथा जगत्‌के अन्य लोगोंका निश्चित अहित होता है।

याद रखो—प्राणिमात्र सुख चाहता है और वस्तुत: हित ही सच्चा सुख है, इसलिये अपना हित चाहनेवालेको चाहिये कि वह जब-जब अपने हितकी बात सोचे—करे, तब-तब यह ध्यान रखे कि इससे दूसरे प्राणियोंका अहित तो होना ही नहीं चाहिये, पर उनका हित निश्चित होना चाहिये; क्योंकि जिस कार्यके परिणाममें दूसरोंका अहित होता है, उससे अपना हित होता ही नहीं और जिससे दूसरोंका परिणाममें हित होगा, उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सुख चाहते हो तो अपने प्रत्येक विचार तथा कर्मके द्वारा दूसरोंका हित सोचो, हित करो।

याद रखो—जो दूसरोंके हित-साधनको ही अपना हित समझकर कर्म करता है, सभी लोग सहज ही उसका हित चाहने लगते हैं। अत: उसके सुहृदों, हितचिन्तकों तथा सच्चे बन्धुओंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सभी ओरसे उसे सहानुभूति, सेवा, सुहृदता, सद्भावना, सुरक्षा आदि मिलते रहते हैं। फलत: वह स्वयं शान्तिका मूर्तिमान् प्रासाद बन जाता है और उसके सम्पर्कमें रहनेवालोंको भी शान्तिका परम लाभ होता है। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है; जहाँ अशान्ति है, वहीं दु:ख है। अशान्तके लिये सुख कहाँ? **'अशान्तस्य कुत: सुखम्'**।

याद रखो—जहाँ दूसरोंके हितके लिये त्याग है, वहीं यथार्थ प्रेमका उदय होता है। त्याग प्रेमसे मिलता है और प्रेमसे त्याग बढ़ता है। यों उत्तरोत्तर त्याग और प्रेममें होड़-सी लग जाती है और इससे एक त्यागमय विशुद्ध परम निर्मल परम मधुर भावोंका सुख-सागर लहरा उठता है, जिसमें अवगाहन करके, जिसके एक बूँदका आस्वादन करके भी मनुष्य अपूर्व सुखका अनुभव करता है।

याद रखो—किसीको अपना बनाना हो, मित्र बनाना हो, सुहृद् बनाना हो तो उसके अपने बनो, उसके मित्र बनो और उसके सुहृद् बनो। यही सबपर सात्त्विक विजय प्राप्त करनेका साधन है—इसीकी जगत्‌को आवश्यकता है और यही परहितका भाव जब भगवत्पूजा बन जाता है, तब प्रत्येक प्राणीके साथ होनेवाले प्रत्येक सद्व्यवहारसे उस प्राणीके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌की पूजा होती है और फलत: जीवन सुख-शान्तिमय तो बीतता ही है, मानव-जीवनके परम तथा चरम लाभ भगवत्प्राप्तिसे भी वह सुसम्पन्न हो जाता है। कृतार्थ हो जाता है उसका जन्म-जीवन! यह सब संस्कारित जीवनसे ही सम्भव है। **'शिव'**

संस्कारित बालकोंका वास्तविक विकास

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

करारविन्देन पदारविन्दं
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

परमात्माकी सृष्टिमें दैव और आसुर भावको प्राप्त—दो प्रकारके जीव मिलते हैं।

'उभे प्राजापत्या देवाश्चासुराश्चेति। ते पस्पर्धिरे दैत्या ज्यायांसो देवाश्च महीयन्त।'

इस दैव और आसुर सृष्टिमें अनादि कालसे द्वेष-भावना, स्पर्धा अक्षुण्ण चली आ रही है। दैत्योंकी विजय और देवताओंकी हार बहुत बार होती देखी गयी है। सत्त्वप्रधान जीव देव और तम:प्रधान जीव असुर माने जाते हैं। गीता (१६।१—३)-में कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंमें अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञान, योग, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनताका अभाव, प्राणियोंके प्रति दया, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अभिमानाभाव आदि सद्‌गुण स्वभावसे रहते हैं। इसके विपरीत आसुरी सृष्टिवाले जीवोंमें—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
(गीता १६।७)

प्रवृत्ति और निवृत्तिका तात्त्विक ज्ञान न होना, शौचाभाव, आचाराभाव, सत्याभाव आदि असद्‌गुणोंका बाहुल्य दीख पड़ता है। आजके बालकका गर्भाधानमें आनेके क्षणसे ही माता-पिताके अशास्त्रीय व्यवहारोंके कारण दैवी सृष्टिमें जन्म कठिन ही नहीं, प्राय: असम्भव-सा प्रतीत होता है; क्योंकि गार्भिक संस्कारोंका प्राय: अभाव ही रहता है। गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन-संस्कारोंके न होनेसे माता-पिता तत्कालीन शिक्षा और तदनुकूल आचरणसे वञ्चित रह जाते हैं। कहा गया है—

हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा।
कूर्पासकं च ताम्बूलं मङ्गलाभरणं शुभम्॥
केशसंस्कारकबरीकण्ठकर्णविभूषणम् ।
भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेद् गर्भिणी न हि॥
चतुर्थे मासि षष्ठे वाप्यष्टमे गर्भिणी यदा।
यात्रा नित्यं विवर्ज्या स्यादाषाढे तु विशेषतः॥
(बृहस्पति)

भाव यह है कि गर्भिणी स्त्रीको चौथे, छठे, आठवें मासमें विशेषत: आषाढ़ मासमें यात्रा कभी नहीं करनी चाहिये। पतिकी आयु चाहनेवाली स्त्रीको माङ्गलिक शृङ्गार, केश-संस्कार, कर्ण-विभूषणका त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार गर्भिणीके पतिको भी निम्न बातें वर्जित हैं—

वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः।
नौकारोहणं चैव तथा च गिरिरोहणम्॥

अर्थात् गर्भिणीपति मुण्डन, मैथुन, तीर्थसेवन, नावकी सवारी और पर्वत आदिका आरोहण न करे। इस प्रकार धर्मशास्त्रानुकूल सदाचरणोंद्वारा उत्तम संतति उत्पन्न की जा सकती है। इसके विपरीत आजके पुरुष और स्त्री नियमपूर्वक नहीं रहते, जिसके कारण उत्तम संतान उत्पन्न ही नहीं होती।

जातकर्म

उत्पत्तिके समय पिताको बालकका नालच्छेदनसे पूर्व जातकर्म-संस्कार करना चाहिये। जातकर्म-संस्कारके प्रमाणसे बालक गुणवान् और दीर्घायु होता है—

'स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैन-मभिमृशेत्।' (पा०गृ०सूत्र १।१६।८)

'यदि पिता चाहे कि इस बालककी पूर्ण आयु हो तो वात्सप्रेण अनुवाकसे बच्चेपर हाथ फिराये।' इससे वह दीर्घजीवी होता है। जातकर्म-संस्कारके समय बालककी दीर्घायुके लिये सुवर्ण-भूमि-गोदानादि करना चाहिये—

आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति।
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि॥

'पुत्रकी उत्पत्तिके साथ-साथ देव और पितर जनिताके घर आते हैं। अतएव उनकी तृप्तिके लिये पिताको दान-पुण्य करना आवश्यक है।' इसके पश्चात् **'दशम्यां पुत्रस्य'**-के अनुसार बालकका नामकरण-संस्कार, अन्नप्राशन, बहिर्निष्क्रमण, चूडाकरण-संस्कार शास्त्रविधिसे यथाकाल करने चाहिये।

माताका अधिकार—पूर्व कथनानुसार गर्भगत बालक मातासे अधिकृत रहता है। उत्पत्तिके पश्चात् भी जबतक बालकका निष्क्रमण-संस्कार नहीं होता, तबतक वह माताके ही अधिकारमें रहता है। इस अवस्थामें बालकको भय दिखाना, अपवित्र रखना, उसके सामने काम-जन्य चेष्टाएँ करना, नींद आदिके लिये मादक द्रव्य देना, रोते हुए बच्चेको नशा खिलाना आदि बातें बालकके भविष्यमें महान् खाईं बन जाती हैं। जैसी आदत बालककी हो जाती है, वैसी ही अन्ततक चलती है।

पिताका अधिकार—पिताको चाहिये कि बालकका लालन-पालन प्रेमसे करे और उसे शिक्षाकी उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करे। अपशब्द, गंदी बातें, गाली आदिका प्रयोग भूलकर भी बालकके सामने न करे। जब बालक बोलना शुरू करे, तब उसे राम-कृष्णके सुन्दर नामोंका उच्चारण कराये और उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करता रहे। इसके पश्चात् जब बालककी आयु पाँच वर्षकी हो जाय, तब उसका उपनयन-संस्कार कराकर गुरुको सौंप देना चाहिये।

उपनयन-संस्कार

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

अर्थात् 'ब्रह्मतेजको धारण करनेवाले ब्राह्मण-बालकका पाँचवें, बलार्थी क्षत्रिय-बालकका छठे, धनार्थी वैश्य-बालकका आठवें वर्षमें उपनयन करे।' आपस्तम्बसूत्रकार भी लिखते हैं—

अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चस्कामम्, अष्टमे आयुष्कामम्, नवमे तेजस्कामम्, दशमे ज्ञानादिकामम्, एकादशे इन्द्रियकामम्, द्वादशे पशुकाममुपनयेत्॥

उपनयन-संस्कारका मुख्य उपदेश कामचार, कामवाद और कामभक्षणका परित्याग करके अपनेको ब्रह्मबल-क्षात्रबल-प्राप्तिके योग्य बनाना है।

कामचार—उपनयन-संस्कारके पूर्व बालक इच्छित स्थानपर बैठना-उठना, आना-जाना आदि करता रहता है। स्वेच्छापूर्वक कहीं चले जाना, शुद्ध या अशुद्धका विचार न करना, शौचाचारका ध्यान न रखना आदि कामचारके अन्तर्गत हैं। इसीलिये उपनयनके पश्चात् आचार्यको शौचाचार सिखानेके लिये शास्त्र आज्ञा देता है।

कामवाद—उपनयनके पूर्व बालक स्वेच्छानुसार चाहे जैसे बोलता और कहता रहता है; उसपर आक्षेप तथा किसी प्रकारका दबाव नहीं दिया जाता—परंतु उपनयनके पश्चात् गुरु उपदेश देता है। **'सत्यं वद' 'प्रियं वद' 'सत्यमप्रियं मा वद' 'प्रियं चासत्यं मा ब्रूहि'** इत्यादि। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय असत्य मत बोलो आदि। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता (१७। १५)-में 'वाङ्मय तप' के प्रसङ्गमें कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

यही वाणीका सदुपयोग है। इसके विपरीत—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाचिकं त्रिविधं मतम्॥

कठोर वचन, मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, बेतुकी बातें कहना—जिससे कहनेवाले और सुननेवालेका कोई लाभ न हो, इसमें वाणीका दुरुपयोग होता है तथा परलोकमें पशु-पक्षियोंकी योनि प्राप्त होती है—

'वाचिके पक्षिमृगता दुर्योनिप्राप्तिः साम्प्रतम्।'

आजकल शिक्षित समुदायमें बहुधा देखा जाता है कि कोई बात कहकर उसके पालनमें थोड़ी-सी आपत्ति होनेपर कह देते हैं कि हम अपना वचन वापस लेते हैं। ऐसा कहना अपने भारतीय आदर्शको भूल जाना है। **'रामो द्विर्नाभिभाषते'**। ***'चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत ब्योहार'***। इसलिये जो व्यक्ति कामवादको छोड़कर 'हित, मित, सत्य' बोलता है, उसकी वाणीमें **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफला-श्रयत्वम्'**—इस प्रमाणके अनुसार जो बात निकलती है, वह तत्क्षण फलदायिनी हो जाती है। इसलिये गुरुकुलमें आचार्यद्वारा स्वयं अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय, हितवाक्य बोलते हुए बालकोंको प्रारम्भसे ही वैसा ही बोलनेका अभ्यास

कराना चाहिये।

कामभक्षण—उपनयनसे पहले शिशु इच्छानुसार अनेक बार खाता-पीता रहता है, परंतु उपनयनके अनन्तर आचार्य कामभक्षणपर नियन्त्रण रखता हुआ आदेश देता है—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कार्यमग्निहोत्रसमो विधिः॥
द्विर्भोजनं न कर्तव्यं स्थिते सूर्ये द्विजातिभिः।

अर्थात् **'सायं प्रातर्वा भोजनम्'** इस वेद-प्रमाणसे एक बार दिनमें, एक बार रात्रिमें भोजन करना ही द्विजातिके लिये विहित है। बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। सूर्यके रहते दो बार भोजन करना उचित नहीं।' प्रायः आजके शिक्षित समाजकी यह धारणा बन गयी है कि खाने-पीनेसे धर्म और शिक्षाका कोई सम्बन्ध नहीं है, परंतु यदि विचारदृष्टिसे देखा जाय तो यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। दीपक अन्धकारको खाता है और परिणामतः कज्जलको उगलता है। श्रुति अन्वय-व्यतिरेकरूप तर्कसे इस सिद्धान्तको दिखाती है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यो स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।'

अर्थात् खाया हुआ अन्न शरीरमें जाकर मल, मांस तथा मनरूप परिणामको प्राप्त होता है। उसी प्रकार पीया हुआ जल मूत्र-रक्त-प्राणरूप एवं तेजोमय खाये हुए घृतादिक पदार्थ अस्थि-मज्जा-वाणीरूप हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्नका सूक्ष्मतम परिणाम मन हुआ, जलका प्राण और घृतादिकोंका वाणी।

इसलिये जो लोग अन्न, जल और घृत आदिकी शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार न करते हुए मनमाना उपयोग करते हैं, उनके मन, प्राण, वाणी किस रूपमें परिणत होते हैं—यह बात आज प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है। आजका शिक्षित समुदाय करोड़ोंकी संख्यामें अपने भारतीय आदर्शसे विमुख होकर पशुओंके समान उच्छृङ्खल होता जा रहा है। किसी व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रके पतनके हेतु—विहित कर्मोंका त्याग, निन्दित कर्मोंका आचरण और विषयासक्ति ही होते हैं—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जन्निन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(मनु० ११। ४४)

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

(गीता ३। ५)

कोई लौकिक प्राणी क्षणमात्र भी वाचिक-मानस चेष्टाओंके बिना नहीं रह सकता। इसलिये शास्त्र-विहित कर्मोंका परित्याग करनेसे लक्षित होता है कि निन्दित आचरण अर्थात् कामचार, कामवाद, कामभक्षण हो रहा है। इन्द्रियोंके विषय शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्धमें फँसा हुआ मनुष्य मारा जाता है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गा हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

वीणाके शब्दसे मृग, स्पर्शदोषसे हस्ती, रूपसे पतङ्ग, रससे मत्स्य, गन्धसे लोलुप भृङ्ग मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रका पतन होता है। विशेषकर बालकोंके कोमल स्वच्छ अन्तःकरणपर शिक्षाके द्वारा जो छाप पड़ती है, वह तो आमरण अमिट हो जाती है—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।

मनुजी कहते हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

अर्थात् 'अन्नके दोषसे धर्मसे विमुखतारूप आलस्य, आलस्यसे सदाचारका त्याग, सदाचारके त्यागसे वेदादि सच्छास्त्रोंका अनभ्यास और वेदादि सच्छास्त्रोंके अनभ्याससे ब्राह्मणोपलक्षित द्विजातियोंके बालक अविद्या-काम-कर्मरूप मृत्युके मुखमें चले जाते हैं।' बालक ही भविष्यमें राष्ट्रके संचालक तथा नागरिक बनते हैं। जिस देशके बालक शिक्षाद्वारा कामचार, कामवाद, कामभक्षणकी पराकाष्ठापर पहुँचाये जा रहे हैं, क्या वह राष्ट्र भी कभी ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदयका भागी होगा—ऐसा कोई विचारशील माननेको तैयार नहीं हो सकता। आजकल बालक-बालिकाओंका सहशिक्षण चल रहा है, इसका दुष्परिणाम

भी किसी विचारशीलसे छिपा नहीं है। प्रायः गृहस्थ-आश्रममें आनेसे पहले ही बालक-बालिकाएँ अनाचारका शिकार बन जाते हैं। इसीलिये मनुजीने कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

'माता, बहिन और बेटीके साथ भी एकान्तमें (एक आसनपर) न बैठे। इन्द्रियोंका प्राबल्य विद्वान्को भी विषयोंमें खींच लेता है।' इसलिये हमारी शिक्षाके आदर्शानुसार बालकोंको आचार्यकुलमें जाते ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण कराया जाता था—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।'
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-अवस्थामें कामबुद्धिसे स्मरण, कीर्तन, केलि (हास्य), अङ्गप्रेक्षण, एकान्त-भाषण, सङ्कल्प, बुद्धिका निश्चय तथा समागमरूप—ये अष्टविध मैथुन ब्रह्मचारीके लिये विवर्जित हैं।' तद्विपरीत अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना शास्त्रविहित है। पाँच यमोंमें ब्रह्मचर्यका चतुर्थ स्थान है और पाँच नियमोंमें स्वाध्यायका चतुर्थ स्थान है। इससे सिद्ध हुआ कि वेदादि सच्छास्त्रोंके अध्ययन तथा संध्यापूर्वक गायत्री आदि पवित्र मन्त्रोंके जपरूप स्वाध्यायसे ब्रह्मचर्यकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है। और भी—

'सत्सङ्गसंनिधित्यागदोषदर्शनतो भवेत्।'
'भवेद् ब्रह्मचर्यम्।'

अर्थात् विषयोंमें शास्त्र-प्रतिपादित दोष देखते हुए ब्रह्मचर्यके विघातक गंदे साहित्य और सिनेमा आदिसे बचते हुए तथा मादक द्रव्यसेवी एवं विषयी पुरुषोंकी संनिधिके त्यागपूर्वक सत्-शास्त्र एवं सत्पुरुषोंका समागम भी ब्रह्मचर्यरक्षाका अमोघ उपाय है। बालकोंको वेदकी आज्ञा है—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।**' अतः माता-पिता जिस प्रकार लालायित रहते हैं कि हमारे घरमें पुत्र-जन्म हो तथा गुरुजन आशा करते हैं कि हमारे यहाँ अधिक संख्यामें विद्यार्थी अध्ययनार्थ प्रविष्ट हों, उससे भी अधिक उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि जो बालक प्रभुकी कृपासे पुत्र तथा शिष्यरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन्हें सच्चरित्र एवं आदर्श बनायें। बालककी सबसे प्रथम आदर्श माता है। माता यदि चाहे तो बालकको मदालसाकी तरह शैशवकालमें ही ब्रह्मनिष्ठ अथवा धर्मनिष्ठ बना सकती है। मदालसाका उल्लापन (लोरी) ही तीन पुत्रोंको ब्रह्मनिष्ठ बनानेमें कृतकार्य हुआ था—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥

चतुर्थ बालकको पतिकी आज्ञासे प्रवृत्तिनिष्ठ गृहस्थाश्रममें रहते हुए वंशवृद्धिके लिये निम्न उल्लापन प्रसिद्ध है—

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मनः परस्त्रीसु निवर्तयेथाः॥
सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथाः।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः॥

अर्थात् संक्रान्ति आदि पर्वोंपर ब्राह्मणोंकी भोजनादिसे तृप्ति, अपने बन्धुवर्गोंकी समीहित वस्तुसे पूर्ति, हृदयमें अन्य पुरुषोंका हितचिन्तन, परस्त्रियोंसे मनका नियन्त्रण, श्रीमुरारिका सदा हृदयमें चिन्तन तथा उनके ध्यानसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्यरूप षट् शत्रुओंपर विजय, सद्गुरुके ज्ञानोपदेशसे मायापर विजय तथा वैभवका उपभोग करते हुए भी उसमें क्षणभङ्गुरत्व-दृष्टि—यही गृहस्थधर्मका आदर्श है।

माताके पश्चात् बालकका सम्पर्क पिता और आचार्यसे होता है। वे भी यदि अपने कर्तव्यका समुचित पालन करें तो बालकोंके सच्चरित्र और आदर्शवादी होनेमें कोई शङ्काका अवकाश नहीं है। अतएव वेदमें शिष्यके प्रति गुरुका अनुशासन है—

'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्' आदि।

अर्थात् जैसा देखा, जैसा सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही वाणीके द्वारा अन्यके हृदयमें बोध कराना तथा श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टारूप धर्मका पालन; अध्ययन-विधिसे गृहीत वेदादि सच्छास्त्रके स्वाध्यायमें प्रमाद न करना; आचार्यके लिये गो-सुवर्ण-वस्त्रादिरूप धन विद्याकी दक्षिणारूपसे देना, पुत्र-पौत्रादिरूप संततिका उच्छेद न होने देना; देवकर्म-पितृकर्ममें कभी आलस्यको स्थान न देना; माता-पिता, आचार्य, अतिथिको देववत् पूजना; शास्त्रविहित कार्योंका सेवन करना, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका परित्याग करना, श्रद्धासे दान करना, अश्रद्धासे न देना, विभव होनेपर देना, लोक-लज्जासे देना, शास्त्रभयसे देना, देशविशेष, कालविशेष, पात्रविशेषको जानकर देना इत्यादि। इस प्रकार हमारे राष्ट्रके बालक सच्चरित्र और आदर्शवादी बनते हुए भारतके मस्तकको ऊँचा करते हुए इसे जगद्गुरुपदपर समासीन करनेमें सफल हों—यही हमारा शुभाशीर्वाद है।

~~०~~

अमृतोपम आचार—अभिवादन

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी)

किसी भी समाजमें शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित आचरण ही शिष्टाचारकी अभिधा प्राप्त करता है। अरण्यवासी आप्तपुरुष ही भारतीय शिष्टाचारके परम आदर्श हैं। हिन्दू-संस्कृतिमें आचार धर्माश्रित हैं और सभी आचार गम्भीर रहस्यसे ओत-प्रोत हैं। भारतीय शिष्टाचार कल्पनाजीवी न होकर अत्यन्त सुदृढ़ तथा गहरी नींवपर अवस्थित हैं। परिस्थितिजन्य प्रभावसे हमारे आचार क्षणिक प्रभाववाले होते अवश्य दिखायी पड़ते हैं, किंतु ये प्रभाव तात्कालिक होते हैं। इन आचारोंमें आगत विकृतियाँ शाश्वत नहीं होतीं। ये विकृतियाँ कतिपय परिशोधनोंसे पराभूत हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि हिन्दूसंस्कृतिमें जो भी आचार हैं, उनके नियम सुनिश्चित हैं; क्योंकि वे गहनतम समाधिके क्षणोंमें उद्भूत विचारोंके द्वारा सुस्थिर किये गये हैं।

अभिवादनकी विमल पद्धति सामाजिक व्यवहारका सिंहद्वार है। शिष्टाचारका श्रीगणेश यहींसे होता है। अभिवादनको पावन त्रिवेणीकी भाँति देखा जा सकता है। सर्वप्रथम ईश्वराभिवादनको लें—इसीमें सभी देवी-देवताओंका भी अभिवादन अनुस्यूत है। दूसरा, छोटोंके द्वारा बड़ोंका अभिवादन और तीसरा, समवयस्कोंमें परस्पराभिवादन। वैसे तो नमस्कार, प्रणाम, प्राञ्जलि, अञ्जलिपुट, प्रणिपात, नामोच्चारणयुक्त प्रणाम तथा प्रदक्षिणापूर्वक छोटे जो बड़ोंके प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं, पर्यायभेदसे अभिवादनके अन्तर्गत ही आते हैं, परंतु अभिवादनका अनुपम स्वरूप भारतीय संस्कृतिमें साष्टाङ्गको ही स्वीकारा गया है।

पेटके बल भूमिपर दोनों हाथ आगे फैलाकर लेट जाना—जिसमें मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, वक्ष, घुटने, करतल तथा पैरोंकी अँगुलियोंका ऊपरी भाग—ये आठ अङ्ग भूमिसे स्पर्श करते रहें। दोनों हाथोंसे सम्मान्य पुरुषका चरणस्पर्श करके घुटनोंके बल बैठकर उसके चरणोंसे अपने भालका स्पर्श कराना और उसके पादाङ्गुष्ठोंका हाथोंसे स्पर्श करके हाथोंको नेत्रोंसे लगा लेना—साष्टाङ्ग प्रणामकी पूर्ण विधि है। इसीको दण्डवत् प्रणामकी श्रेणीमें भी रखा जाता है। यथा—**'प्रणामे दण्डवद्भूमौ'** अर्थात् दण्डकी भाँति भूमिपर गिरकर प्रणाम करे। इस अभिवादन-प्रक्रियामें श्रीमनु महाराजने कुछ और बातें भी कही हैं—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।

× × ×

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(मनु० २।७१-७२)

अर्थात् वेदके स्वाध्यायारम्भमें और अन्तमें सदैव गुरुके दोनों चरण ग्रहण करने चाहिये। अपने बायें हाथसे गुरुका बायाँ पैर स्पर्श करना चाहिये तथा दाहिने हाथसे दाहिना पैर। ऐसी अनेक विधियोंका वर्णन अभिवादनके प्रसंगमें मिलता है, किंतु आजके तथाकथित अधुनातन मनोमस्तिष्कके उपासक लोगोंने अभिवादन-क्रियाकी अच्छी

शल्यचिकित्सा कर डाली। आजकी संक्षिप्तीकरणकी प्रक्रियाने केवल भाषाके क्षेत्रमें ही नहीं, हमारी पुरातन आचारपद्धतिमें भी हस्तक्षेप प्रारम्भकर भारतीय संस्कृतिको दुर्दशाग्रस्त बना दिया है।

ऊपर साष्टाङ्गकी चर्चा हुई है, अब अर्द्ध साष्टाङ्गको भी देखें—घुटनोंके बल बैठकर मस्तकको चरणोंसे स्पर्श कराना उसीका अर्द्धरूप है। दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका देना—अभिवादनका सांकेतिक रूप है। इसी प्रकार अभिवादनका अवमूल्यन अबाध गतिसे जारी है। अब तो सिर हिलाना, एक हाथसे हरी झण्डी दिखाना आदि ही अभिवादनका अवशेष रह गया है।

अगर अभिवादनकी कोटि निर्धारित की जाय तो उसे तीन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है—१-नित्य, २-नैमित्तिक और ३-काम्य। जो प्रणाम प्रतिदिन नियमानुसार किया जाय, उसे नित्याभिवादन कहा जायगा। यथा—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

(रा०च०मा० १।२०५।७)

विशिष्ट अवसरों, पुण्यतम तिथियों, मङ्गलमय महोत्सवों आदि अवसरोंपर जो अभिवादन किया जाय, उसे नैमित्तिक अभिवादन कहेंगे और जो प्रणाम किसी विशिष्ट कामना या अभिलाषापूर्त्यर्थ प्रेरणासे अभिप्रेरित होकर किया जाय, उसे काम्य कहा जायगा। नित्य अभिवादन तो मानो विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य-सा है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर छात्रको सर्वप्रथम अपने गुरुजनोंका अभिवादन ही वरेण्य कर्म है। नैमित्तिक प्रणाम तो कभी-कभी ही होता है। जैसे किसी भी कर्मकी सफलताके उपरान्त दीर्घायुष्य-प्राप्तिकी आशासे तथा सपरिवार कल्याणहेतु कोई भी व्यक्ति अपने गुरुजनोंको प्रणाम कर सकता है।

भारतीय दर्शनने अभिवादनकी महिमा अक्षुण्ण रखी है। अभिवादनके प्रसंगमें एक प्रश्न उठता है कि बड़े या छोटेका निर्णायक स्वरूप क्या है? क्योंकि प्रसंग मिलता है कि महर्षि व्यासजीने अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको अभ्युत्थान दिया और प्रणाम किया। इस घटनासे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रणामके प्रसंगमें बड़े-छोटेका मानक वय न होकर त्याग है।

महर्षि शुकदेव परम विरागी वीतराग थे, इसीलिये ऋषिवर्य व्यासजीने उन्हें अभिवादन किया। हमारी हिन्दू-संस्कृति त्यागमूलक है और त्यागी पुरुष सचमुच सर्वथा प्रणम्य है। त्यागके बाद हमारी संस्कृतिने विद्या-विभूषितको स्थान दिया है। तदुपरान्त वर्णको स्थान मिला है।

संस्कारप्रकाश नामक ग्रन्थमें अभिवादनकी विधि इस प्रकारसे अङ्कित है—ब्राह्मणको अपनी दाहिनी बाहु कानकी सीधमें फैलाकर, क्षत्रियको छातीतक, वैश्यको कमरतक तथा शूद्रको पैरतक फैलाकर अभिवादन करना चाहिये तथा दोनों हाथ जुड़े होने चाहिये। आश्रमीय व्यवस्थामें स्वजातीय लोगोंमें ही अभिवादन प्रचलित था।

अभिवादनके प्रसंगमें कतिपय ध्यातव्य बातें पालनीय हैं। यदि अपना शरीर शुद्ध न हो, स्वयं स्नानयुक्त न हो तो गुरुजनोंका चरण-स्पर्श न करके चरणाग्र भूमिपर मस्तक रखकर नमन कर लेना चाहिये।

स्नान, शौचादि, दन्तधावन, क्षौर करते, तेलमर्दित तथा शवयात्रामें सम्मिलित व्यक्तिको अभिवादन नहीं करना चाहिये। स्वयं प्रणामकर्ता भी उपर्युक्त अवस्थामें निरत हो तो प्रणाम नहीं करना चाहिये। श्मशानमें और कथास्थलमें मानसिक प्रणाम ही आचरणीय है।

अपनेसे बड़ेके आगमनपर छोटेको तत्काल आसन छोड़कर उत्थापन देना चाहिये तथा अभिवादन करना चाहिये। यदि परिस्थितिजन्य कोई बाधा न हो तो उसके समीप आनेकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। बल्कि तत्क्षण प्रणिपात करना चाहिये।

यह सर्वविदित है कि मानवीय ऊर्जा शरीरमें सतत प्रवाहित होती रहती है। प्रबल विद्युच्छक्ति दुर्बल विद्युच्छक्तिको अपनी ओर आकर्षित करती है। भारतीय अध्यात्मविज्ञानकी मान्यता है कि किसी वरेण्य व्यक्तिके आगमनपर प्राणस्पन्दनकी गति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। उस समय यदि छोटा व्यक्ति उत्थापन नहीं देता है तो प्राणमें विकृति आनेकी सम्भावना रहती है। इसलिये गुरुजनके आगमनपर अविलम्ब

अभिवादनमें संलग्न हो जाना चाहिये।

अपनेसे श्रेष्ठके चरणोंपर मस्तक तथा हाथ रखकर प्रणाम करनेमें हम उनका प्रभाव ग्रहण करते हैं; क्योंकि गुरुजन आशीर्वादस्वरूप दोनों हथेलियोंको मस्तकपर रखकर अथवा सम्मुख करके अपनी ऊर्जा हमें प्रदान करते हैं। इसीलिये प्राचीन समयमें गुरुजनोंको अभिवादन करते समय लोग अपना गोत्र, पिताका नाम तथा अपना नाम लिया करते थे।

शास्त्रोंका संकेत है कि जिसको बहुत लोग प्रणाम करते हैं, जिसे बहुतोंको आशीर्वाद देना पड़ता है, उनके शरीरकी विद्युत्—ऊर्जा क्षीण होती है। अतएव कतिपय महापुरुष एवं साधक स्वचरणस्पर्श नहीं करने देते। वे प्रणामोपरान्त भगवत्स्मरण कर लेते हैं। ऐसे महापुरुषको दूरसे ही सश्रद्धया नमन करना चाहिये।

अभिवादनके साथ प्रत्यभिवादनकी प्रक्रिया भी सम्बद्ध है। प्रणामोपरान्त गुरुजन या कोई भी व्यक्ति जो प्रत्युत्तर देता है या जो आशीर्वचन कहता है, उसे प्रत्यभिवादन कहा जाता है। श्रीमनुमहाराजने ब्राह्मणोंके लिये निर्देश दिया है कि ब्राह्मणोंको प्रत्यभिवादनमें 'हे भद्र, आप दीर्घजीवी हों'—कहना चाहिये।

प्रणामोपरान्त आशीर्वाद नहीं देना अनुचित कहा गया है। प्रणम्य व्यक्तिको यह सतत ध्यान रखना चाहिये कि अभिवादनकर्ताने मेरे शरीरस्थ परम प्रिय विभुको ही नमन किया है। अतएव उसी साक्षीस्वरूप सत्-चित्-आनन्दकी ओरसे आशीर्वाद भी देना चाहिये, न कि स्वदेहाभिमानसे। दोनों हाथोंकी अञ्जलि सम्मुख करके आशीर्वाद देना मर्यादायुक्त एवं शास्त्रसम्मत है।

यदि कोई व्यक्ति भगवन्नामस्मरणके माध्यमसे अभिवादन करे तो उसे भी नामस्मरणसे ही समुत्तर देना चाहिये।

भारतीय शिष्टाचारमें अभिवादन-प्रसंगमें अङ्कमालकी परम्परा भी प्रचलित थी। मगर यह पद्धति स्वजनोंतक ही सीमित थी। अपरिचितोंके लिये वर्जित थी। गुरुजन प्रणाम करते हुए स्नेहपात्र प्रियजनोंको और मित्र, सम्बन्धी, सुहृद् एक दूसरेको अङ्कमाल देते थे। पिता अपने पुत्रोंके सिरका आघ्राण करके भी आशीर्वाद देता था।

अभिवादन वस्तुतः एक अमूल्य संस्कार है। यह **'आचारः प्रथमो धर्मः'** का पराविज्ञान है। इसे मात्र बहिरङ्गका एक व्यावहारिक कृत्य नहीं माना जा सकता।

इस शिष्ट संस्कारके अबाध आचरणसे कोई भी व्यक्ति सहज साधक बन सकता है और जीवन रसमय बन जाता है। इस अभिवादन (प्रणाम)-की महत्ताको प्रदर्शित करते हुए नृसिंहपुराणमें कहा गया है—

नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्वयज्ञेषु चोत्तमः।
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत्॥

श्रीहरिके नमस्कारको यज्ञस्वरूप माना गया है। साथ ही वह सर्वयज्ञोंमें श्रेष्ठ है। एक बारके नमस्कार-मात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है और श्रीहरिको प्राप्त होता है। अष्टाङ्ग एवं पञ्चाङ्गप्रणामोंसे भी यह सुलभ, सुखद और अमोघ फलदायी है, किंतु ध्यान रहे, यहाँतककी यात्रामें दोनों वैधी प्रणामोंका भी अन्यतम योगदान होता है।

बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥

(रा०च०मा० २।२१७।४)

अर्थात् एक बार भगवन्नामके उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरणसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। बृहन्नारदीयपुराणमें कहा गया है—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम॥

अतः भगवान्के एक नामोच्चारण, श्रवण तथा स्मरणसे समस्त पाप भस्म हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। ठीक इसी प्रकार नमस्कारके सम्बन्धमें भी सत्य है।

कहा जाता है कि जिसने एक बार भी भगवान्को नमस्कार कर लिया, उसका आवागमन अवरुद्ध हो जाता है। भगवद्वाणी—**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**—में भी यही ध्वनित है।

इसीको कविवर तुलसीदासजीने *'सकृत प्रनामु*

किहें अपनाए' से कहा है—सचमुच प्रकृष्ट रूपसे नमन मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यतक पहुँचा देता है। वास्तवमें 'नाम' और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। प्रणाम शब्द 'प्र' उपसर्गयुक्त नाम ही तो है और कलियुगमें नामोपासनाको सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार अभिवादनका अवदान अपनी श्रेष्ठतम अवस्थामें मनोवाञ्छित फल प्रदान करा देता है।

अभिवादनक्रियामें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियका विलक्षण संयोग है। शरीरसे दण्डवत् करना स्थूल और वाणीसे नमस्कार करना सूक्ष्म विनम्रताका प्रतीक है। जिसको नमस्कार किया जा रहा है—वह अवस्थासे, जातिसे और गुणसे श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठताकी स्वीकृति ही नमस्कार-क्रियाकी अर्थव्यञ्जना है। जागतिक अभिवादनक्रियामें श्रेष्ठताकी सीमा होती है।

जैसे ये माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं आदि, किंतु भगवदभिवादनकी क्रियामें असीम श्रेष्ठताकी अनुभूति होती है। बाल्यकालसे अभिवादनका अभ्यास ही एक दिन आराध्यके आश्रयतक पहुँचा देता है, जहाँ पहुँचकर नमस्कारक्रियाके द्वारा अनुकूलताका संकल्प और प्रतिकूलताके वर्जनका भाव दृढ़ होता है। अपनी अल्पज्ञता, अल्पक्षमता और अल्पसुखमयताका भान होता है और भगवान्के पूर्ण ज्ञान, उनकी पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण सुखराशिका चिन्तन होने लगता है। अभिवादन शब्दका यह गूढार्थ सर्वथा ध्यातव्य है।

हिन्दूसंस्कृतिमें अभिवादनको केवल परम्परागत शिष्टाचारमात्र नहीं माना जाता है। भारतीय शास्त्रोंमें इसे एक आवश्यक धर्मानुष्ठान एवं शालीन संस्कार स्वीकारा गया है। कतिपय प्रमाण दर्शनीय हैं—

१-**'अग्निमीळे'** (ऋक्० १।१।१)—मैं अग्निदेवकी वन्दना करता हूँ।

२-**'ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'** (अथर्व० १०।७।३२-३३)—सबसे महान् ब्रह्मको नमस्कार करता हूँ।

३-**'नमस्ते भक्तवत्सल'** (वा०रा०)—हे भक्तवत्सल राम! आपको नमस्कार है।

अन्तमें इस अभिवादन सिद्धान्तकी फलश्रुति भी दर्शनीय है। यह आचार व्यक्तिको विनम्र बनाता है। राजा-रंक, सबका अहंकार कम-से-कम मन्दिरमें अभिवादनके साष्टाङ्गरूपसे सर्वथा समाप्त हो जाता है; क्योंकि अहंकारी व्यक्तिमें अभिवादनहेतु श्रद्धाकी फसल उग ही नहीं सकती।

समताकी शालीन भूमि देव-मन्दिरमें **'समत्वं योग उच्यते'** की भूमिका मनुष्यको प्राप्त होती है। इस अभिवादनकी प्रक्रियामें नवधा भक्ति समन्वितरूपमें आत्मनिवेदनके उदारस्वरूपको प्रकट कर देती है।

साष्टाङ्ग प्रणामसे शरीरमें पार्थिव विद्युत्की सम्यक् उपलब्धि हो जाती है। इस प्रसंगकी अत्यन्त प्रचलित फलोपलब्धि श्रीमनुमहाराजद्वारा कथित निम्नाङ्कित श्लोकमें दर्शनीय है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

अर्थात् अभिवादन करनेका जिसका स्वभाव है और विद्या अथवा अवस्थामें वृद्ध पुरुषोंकी जो नित्य सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल—इन चारोंकी नित्य उन्नति हुआ करती है। अभिवादनरूपी इस पराविज्ञानकी शिक्षा सर्वप्रथम संस्कारके रूपमें दी जानी चाहिये।

भारतने चरणस्पर्शके माध्यमसे मनुष्यमें झुकने अर्थात् विनम्र होनेकी जो प्रवृति पैदा की है, वह विश्वमें दुर्लभ है। बिना विनम्रताके गुणाधान असम्भव है। आजके विद्वेषपूर्ण और वैर, विग्रह तथा वैषम्यके वातावरणमें यही शिष्टाचार समत्वमें प्रतिष्ठित कर सकता है।

अभिवादनकी यह प्रक्रिया अगर मानवके रक्ताणुमें संस्कारवत् प्रविष्ट हो जाय तो आज समाज ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'***की भूमिकामें चला जाय। ***'सीय राममय सब जग जानी'***की स्थिति हो जायगी। भौतिक प्रदूषणसे अधिक खतरनाक संस्कार-प्रदूषण है, जिसे अभिवादन-प्रक्रियाके विविध रूपोंके द्वारा सहजमें दूर किया जा सकता है—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*** का प्रथम सोपान यही है।

~~०~~

संस्कार—एक निरन्तर प्रक्रिया

(आचार्य श्रीगंगारामजी शास्त्री)

संस्कारका सामान्य अर्थ होता है—निखारना। जिस क्रियाके द्वारा किसी भी वस्तुमें निखार आये, उसे उस वस्तुका 'संस्कार' कहा जायगा। सुनार किसी मैले आभूषणको चमकदार बना देता है तो उसे आभूषणका निखारना अथवा संस्कार करना कहा जाता है। संस्कारके विषयमें कहा गया है—'**संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य**'। अर्थात् पदार्थ जब किसी प्रयोजनके लिये विशेष क्रियाके द्वारा योग्य बनाया जाता है तो उसे संस्कार कहते हैं। पदार्थके दोष, मैल तथा अशुद्धिको दूर कर उसमें गुणोंका आधान करना ही संस्कार है। सोलह अथवा अड़तालीस संस्कारोंके द्वारा दोषोंको दूरकर व्यक्तिको अधिक गुणवान् बनाना ही अभीष्ट होता है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चूडाकरण-संस्कारसे माता-पिताके शुक्र-शोणितसम्बन्धी तथा गर्भवाससम्बन्धी दोष दूर होते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।

मनुस्मृति (२। २७)-में भी कहा गया है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

इतने संस्कारोंका लक्ष्य दोष दूर करना भर है। दोषापनयनके पश्चात् गुणाधानके विषयमें मनुस्मृतिका कथन है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

(मनु० २। २८)

स्वाध्याय-वेदाध्ययन, यम-नियमादि व्रतोंका पालन, सायं-प्रातः हवन, देव-ऋषि-पितृतर्पण, पुत्रोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ और यज्ञादि करनेसे यह देह और देही ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है।

मलापनयन और गुणाधानको यथावत् मानते हुए संस्कारोंका वर्गीकरण नित्य और नैमित्तिक संस्कारके भेदसे भी किया जा सकता है। तब सोलह अथवा अड़तालीस संस्कारोंको नैमित्तिक कहा जायगा; क्योंकि इनका एक निश्चित समय रहता है। जैसे कि पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोंको गर्भाधानके पश्चात् और जन्मके पूर्व ही करनेका विधान है। विद्याध्ययन और उपनयनतकके सभी संस्कार नैमित्तिककी श्रेणीमें आते हैं। नित्य संस्कारोंमें प्रतिदिन अथवा नित्य निरन्तर किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक संस्कार आते हैं। शरीरको पवित्र और स्वस्थ रखनेके लिये किये जानेवाले शौच, स्नान आदि कायिक संस्कार नित्य जीवनभर चलते रहते हैं।

मन और वाणीके संस्कार भी निरन्तर चलनेवाले हैं। सामान्य व्यक्तिसे लेकर बड़े-से-बड़े साधकको मनपर नियन्त्रण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी मन विचलित न हो, ऐसी चेष्टा रहनी चाहिये। जिन्होंने साधनाद्वारा मनपर नियन्त्रण कर लिया, वे ही पुरुष धीर हैं, विद्वान् हैं और संस्कारसम्पन्न हैं। इसके लिये क्रोधका उदाहरण लिया जा सकता है। क्रोध आनेकी अवस्थामें शरीरमें विकृति आती है, आँखें लाल हो जाती हैं, नथुने फूल जाते हैं, श्वास-प्रश्वासकी गति बढ़ जाती है, शरीर काँपने लगता है, जीभ विष-वमन करने लगती है। मन काबूमें नहीं रहता, इसलिये इसे बोल-चालकी भाषामें 'आपेसे बाहर होना' कहा जाता है। क्रोधपर विजय पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसके लिये जीवन-व्यापी साधनाकी आवश्यकता है। गीतामें कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

भाव यह है कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके द्वार और आत्माका विनाश करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये। पर इनका त्याग करना क्या सरल काम है? उपदेश दिया गया है—'**अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्**'। यह क्रोधजयकी अवस्था कोई स्थितप्रज्ञ ही प्राप्त कर सकता है।

यही हाल हमारी कामनाओंका है। एक कामनाकी पूर्ति होनेपर उससे आगे दूसरी इच्छा मनमें आने लगती है, जिसके लिये कहा गया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

कामनाकी पूर्ति करना अग्निमें आहुति डालने-जैसा ही है। जिस प्रकार आहुति डालनेपर अग्नि अधिक प्रज्वलित होने लगती है, उसी प्रकार कामनापूर्तिसे मनमें नये-नये कामनाओंके अंकुर फूटने लगते हैं। कबीरदासजीने संतोषको ही मुख्य मानते हुए कहा है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥

इसीलिये पातञ्जलयोगदर्शन (२। ३२)-में कहा गया है—'**शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥**' शौच—शुचिताके अभ्याससे शरीर, मन और वाणीकी मलिनता दूर होती है। संतोषसे शमका आविर्भाव होता है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानसे मन, शरीर और आत्मामें गुणाधान होता है। यह निखार और गुणाधान ही अभीष्ट है, जिसके लिये जीवनव्यापी ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरकी साधना अपेक्षित है।

मनुस्मृति (६। ९२)-में धर्मके दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं। धर्मका साधारण अर्थ—'**धारणाद् धर्ममित्याहुः**' ही यहाँ अभीष्ट है। इन दस गुणोंको धारण करनेसे मलापमार्जन और गुणाधान होता है तथा व्यक्ति सुसंस्कृत बनता है। यह साधना बचपनसे ही निरन्तर चलाते रहनी चाहिये।

मन, प्राण और दसों इन्द्रियोंका जिससे नियमन हो, ऐसे व्यक्तिका जीवन परिवार और समाजके लिये आदर्श बन जायगा। इस प्रकारके गुणाधानके लिये सजगता और सतत प्रक्रिया अपेक्षित है।

'**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।**' विकार, विक्षोभ होनेकी परिस्थितियाँ उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तमें विकार न हो, वे ही पुरुष धीर एवं संस्कृत कहे जाते हैं। इस प्रकार परिस्थितियोंसे अप्रभावित रहते हुए जो मनको वशमें रख सकता है, वह धर्मको धारण करता है, संस्कारोंको अपनेमें प्रतिष्ठित कर लेता है। इस प्रकारके संस्कारित व्यक्तिको क्रोध तो आ ही नहीं सकता। अतः इस एक ही साधनासे दो उत्कर्षाधायक गुण—क्षमा और अक्रोध स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं।

मन और इन्द्रियोंको बाह्य वृत्तियोंके प्रति आकर्षित न होने देना ही दम है। इससे अन्तःकरण निर्मल और पवित्र होता है। इसके लिये संयम और निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है।

निरन्तर चलनेवाली संस्कार-प्रक्रियामें इन्द्रिय-निग्रहका सर्वोपरि स्थान है। हाथ-पैर, जीभ, मूत्रेन्द्रिय और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, नासा, त्वचा और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है, इनका प्रेरक मन है, जिसे ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा गया है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सरका कारण मनःप्रेरित इन्द्रियाँ ही हैं। अतः इनका वशीकार एक अत्यन्त कठिन कार्य है, जिसके लिये सतत विवेकको जाग्रत् रखते हुए साधनाकी आवश्यकता है। जैसे जलके बर्तनमें छिद्र हो जानेसे उसमेंसे जल बह जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंके समूहमेंसे किसी भी एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेपर मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतः इन्द्रियोंको अधर्मपरक विषयोपभोगसे बचाना चाहिये।

व्यक्तिको जीवनभर अध्ययन करते रहना चाहिये। अपने ज्ञानमें वृद्धिके लिये अध्ययनकी आवश्यकता है। जीवनकी पाठशालामें अपनेको सदैव विद्यार्थी मानते हुए स्वाध्याय करना चाहिये। शास्त्रकी आज्ञा है—'**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**'। स्वाध्यायमें प्रमाद न करो। स्वाध्यायका दूसरा अर्थ स्वका अध्ययन करना भी होता है। इसीके लिये '**आत्मानं विद्धि**' और '**आत्मदीपो भव**' कहा गया है।

मनुष्यको अपने आचरणकी शुद्धताके लिये और इसी शरीरमें देवत्वकी प्रतिष्ठाके लिये सतत सावधान रहकर संस्कारवान् बननेकी आवश्यकता है। इससे संस्कार शब्दके सही अर्थ—मलापनयन और गुणाधान—दोनोंकी ही पूर्ति होती है। इसीलिये कहा गया है कि संस्कार निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया है।

~~~०~~~
~~~

शिवपूजासे सर्वशक्तिमान् संस्कारोंकी उत्पत्ति

[स्कन्दपुराणका आख्यान]

[शिवपूजाके सर्वशक्तिमान् संस्कारसे पातक ही नहीं, महापातक आदि संस्कार बिलकुल नष्ट हो जाते हैं और स्वर्गलोक ही नहीं मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।]

स्कन्दपुराणकी सूतसंहिताके शिवमाहात्म्य खण्डमें एक कथा आती है। एक महापापी पुल्कस (शूद्रसे क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न) था। पुराणने उसके लिये महापापी, पुरुषाधम शब्द का प्रयोग किया है, इसलिये कि वह केवल साधारणजनको ही मारकर धन नहीं लूटता था, अपितु वेदज्ञ विद्वानों और गौओंको भी मार डालता था अर्थात् न वह ब्रह्महत्यासे डरता था, न गोहत्यासे। इस तरहसे पाप कमाते-कमाते वह बूढ़ा हो चला था। कुछ दूरपर एक ब्राह्मण रहते थे, जिन्होंने पुराण आदिका अध्ययन कर रखा था, परंतु कामवश होकर एक वेश्याको पत्नी बना रखा था। एक दिन पुल्कसने चोरीका कुछ धन ब्राह्मणको दिया। ब्राह्मण एक ही दोषसे ग्रसित थे, वैसे तो पुराणादिके विद्वान् थे। उनके सामने पुल्कसके सब पाप नाच गये। उन्होंने यह देख लिया कि पुल्कस मरकर नरकमें जायगा और वहाँ बहुत कष्ट भोगेगा। अतः दयावश उन्होंने सोचा कि इसे सद्बुद्धि देनी चाहिये। उन्होंने पुल्कससे कहा कि तुमने बहुत-से पाप ही नहीं महापाप भी किये हैं; अतः तुम मरोगे तो यमदूत तुमको बबूलके काँटोंपर पटकते हुए ले जायँगे। तुम लहूलुहान होकर चिल्लाओगे, पर वे दया नहीं करेंगे। वह मार्ग बहुत लम्बा है, वहाँतक पहुँचनेमें महीनों लग जायँगे। नरकमें पहुँचनेपर वहाँकी यातना सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वहाँ बड़ी-बड़ी लोहेकी चोंचवाले पक्षी होते हैं, जो तुम्हारी आँखोंको बार-बार निकाल-निकाल कर खायेंगे। तुम कष्टसे मरोगे और पुनः जीवित होओगे और वे पक्षी तुम्हारी आँखोंको खाते रहेंगे। तुम्हें ऐसे वनमें ले जाया जायगा, जहाँके पत्ते लोहेकी तलवारकी भाँति होंगे, उनसे तुम्हारा अङ्ग-अङ्ग कटता रहेगा। इसके अतिरिक्त तुमने जो महापातक किये हैं, उनका क्या फल मिलेगा, मैं नहीं कह सकता। तुम्हारे पापोंको स्मरण कर मेरा हृदय भयसे भर जाता है; अतः भाई पुल्कस! अब तुम सावधान हो जाओ। पुल्कसने कहा—मित्र! तुम्हारी बात सुनकर मेरा मन भयसे आकुल हो गया है, मुझे एक भी क्षण चैन नहीं मिल रहा है। जैसे तुम्हारा मन मेरे प्रति भयभीत हो रहा है, वैसे ही मेरा मन भी नरकके डरसे बहुत भयभीत हो गया है—

'तद्वदतिभयाविष्टं मानसं मम संततम्।'

(सूतसंहिता १।४।२६)

मेरे हितैषी मित्र! अब मुझे बचनेका उपाय जल्दी बताओ। ब्राह्मणने कहा—पंचकोशीमें व्याघ्रपुर नामका एक महातीर्थ है, यदि वहाँ हमलोग शिवपूजा करें तो उस पूजासे हममें ऐसा महाशक्तिमान् संस्कार पैदा होगा, जिससे सभी पातक-उपपातक और महापातकके संस्कार नष्ट हो जायँगे, हमलोग स्वर्ग पहुँचेंगे और फिर मुक्त भी हो जायँगे। तुम घर जाओ और अपना जितना भी अर्जित धन है, उसे भोगियों और योगियोंको देकर उनको दण्डवत् प्रणाम करो तथा पुरानी बातको भूलकर भक्तिभावसे मन्दिरके पास आ जाओ, मैं भी आऊँगा। मैंने गणिकाको पत्नी बनाकर बड़ा पाप किया है, इससे मुझमें कर्मज अस्पृश्यता आ गयी है; अतः मैं मन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता और तुममें योनिज अस्पृश्यता है, इसलिये तुमको भी मन्दिरमें प्रवेश नहीं करना चाहिये। हमारी और तुम्हारी पूजामें बहुत भेद है, उसको बादमें बताऊँगा, पहले एक दृष्टान्त सुन लो—

मनुने अपने विधानरूप शास्त्रमें नारी जातिको पूजनीय माना है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३।५६)

जिस घरमें नारियोंकी पूजा होती है, उस घरमें सभी देवता आकर निवास करते हैं और जिस घरमें नारियोंकी पूजा नहीं होती है, वहाँ किया गया यज्ञ आदि सब निष्फल हो जाता है। मान लीजिये एक युवती नारी है, उसे अपने पति, देवर, पुत्र और शिष्यसे पूजा प्राप्त करनेका अधिकार है और नैहरमें है तो पिता तथा

भाइयोंसे पूजन प्राप्त करनेका अधिकार है,* किंतु इनमेंसे प्रत्येकको पूजाका प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। देवर और पुत्रको प्रतिदिन चरण-स्पर्श करके पूजन करनेका अधिकार है, किंतु तरुण शिष्यको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, वह दूरसे भूमिका स्पर्श करके प्रणाम करे। इसी तरह प्रिय मित्र पुल्कस! मैं ब्राह्मण हूँ, मुझसे एक ही पापकर्म हुआ है, अतः मैं उसका प्रायश्चित्त कर मन्दिरमें प्रवेश कर पाऊँगा और वहाँ विधि-विधानके अनुसार दिन भर पूजा करता रहूँगा। यह तो हुआ शिवजीकी पूजाका मेरा प्रकार, किंतु तुममें योनिज अस्पृश्यता है। अतः भगवान्‌ने तुम्हें इस प्रकारकी पूजासे छूट दे रखी है। तुम्हें मन्दिरकी रक्षा और सफाई करनी चाहिये, तत्पश्चात् स्नानकर दूरसे ही देवालयको देखकर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये, यही तुम्हारी पूजा है—

पूजा देवालयं दृष्ट्वा प्रणामस्तस्य कीर्तितः।

(सूतसंहिता १।४।१५)

दोनों पंचकोशीके बाहर रहते थे; क्योंकि पंचकोशीका नियम है कि क्षेत्रके बाहर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। दोनों अपने-अपने नियम-विधान-पद्धतियोंके अनुसार पूजा करते रहे। एक दिन जब पुल्कस मन्दिरकी रक्षा कर रहा था तो बहुत-से लुटेरे मन्दिरको तोड़-फोड़कर घुसनेका प्रयास करने लगे। पुल्कस जानता था कि मन्दिरकी रक्षा ही मेरी पूजा है, अतः वह अकेले ही उनसे भिड़ गया। फलतः मन्दिर तो बच गया, परंतु उसके प्राण चले गये। उसकी इस पूजाका फल यह निकला कि उस पुल्कसके जितने महापातक आदि संस्कार थे, वे मिट गये और वह नरक न जाकर देवदूतोंके साथ स्वर्गलोक गया और वहाँ दिव्य भोगोंको भोग कर मुक्त हो गया अर्थात् ब्रह्मानन्दमें लीन हो गया—

स पुनर्मरणादूर्ध्वं भुक्त्वा भोगाननेकशः।
श्रीमद्व्याघ्रपुरेशस्य प्रसादादम्बिकापतेः।
अवाप परमां मुक्तिमविघ्नेन द्विजोत्तमाः॥

(सूतसंहिता १।४।३६)

ब्राह्मण भी मन्दिरमें विधि-विधानसे पूजा करते हुए मुक्ति प्राप्त कर ब्रह्मानन्दमें लीन हो गये। उनको भी भगवान् सदाशिवने मुक्ति प्रदान कर दी—

तस्यापि ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः पूजया परमेश्वरः।
श्रीमदभ्रसभानाथः प्रददौ मुक्तिमीश्वरः॥

(सूतसंहिता १।४।३९)

इस तरह दोनों घटनाओंसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् शिवकी पूजा सर्वशक्तिमान् संस्कारको पैदा करती है, जिससे स्वर्ग और मोक्ष मिल जाते हैं, कोई भी महापातक आदि विघ्न उसमें बाधा नहीं बन पाते।

(ला०बि०मि०)

संस्कृत तथा दूषित अन्नका प्रभाव

[कुछ दृष्टान्त]

(श्री दि० तु० होले)

श्रीमद्भगवद्गीतामें एक श्लोक है, जिसे भोजन करनेसे पूर्व भगवान्‌को भोग निवेदित करनेके लिये बोला जाता है, इससे भोजनरूप कर्म भी यज्ञ हो जाता है और भोजनरूप कर्ममें ब्रह्मबुद्धि हो जाती है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४।२४)

अन्न ब्रह्म है—ऐसा अन्नका महत्त्व हमको भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गीता करा देती है।

हर जीवमें एक अन्नमय कोष है। अन्न ही देहका प्राण है। अन्नसे रस, रक्त, मांस, मेद तथा मज्जा आदि धातुएँ बनती हैं, साथ ही हमारा सूक्ष्म शरीर भी अन्नसे बनता है। मरनेपर स्थूल शरीर यहाँ जल जाता है, किंतु हमारा सूक्ष्म शरीर और मन पुनर्जन्म लेता है। इसलिये हमारा अन्न सुसंस्कारयुक्त होना चाहिये।

प्रकृतिने मनुष्यको शाकाहारी प्राणी बनाया है। फिर

* पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ (मनु० ३।५५)

भी हम यदि मांसाहार करते हैं तो पूर्वजन्ममें राक्षस या पशु रहे होंगे। मनुष्यके लिये भगवान्ने गीता (१५।१४)-में कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

अर्थात् मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपानसे युक्त हुआ चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं। ये सभी प्रकारके अन्न संस्कारित होने चाहिये।

माताके हाथका भोजन और होटल आदिके भोजनमें कितना अन्तर है! माताका प्रेम एवं वात्सल्य उस अन्नमें प्रतिष्ठित हो जाता है, इसलिये वह अन्न अमृतमय हो जाता है।

अन्नके संस्कारमें ध्यान देनेयोग्य बातें ये हैं कि वह अन्न कहाँसे लाया गया। यदि द्रव्यसे प्राप्त हुआ तो वह द्रव्य कैसा है, कहाँसे आया है? श्रमसे प्राप्त है तो श्रम करनेवाले कैसे थे; बर्तन किसने साफ किये, रसोई किसने बनायी, पानी कैसा और कहाँसे आया, रसोईघर कैसा था, अन्नको परसनेवाले कौन थे, किस स्वभावके थे, पवित्र थे अथवा अपवित्र इत्यादि। इस प्रकार सर्वत्र शुद्धि तथा विशेषरूपसे मनकी शुद्धता आवश्यक है। ब्रह्मार्पण करनेके लिये स्वयं भी ब्रह्मरूप होना चाहिये। यह एक विशेष बात है कि पाश्चात्त्य विचारोंसे प्रभावित आज अधिकांश लोग शुद्धता तथा स्वच्छतामें अन्तर नहीं समझते हैं। शुद्धता या पवित्रता अन्य पदार्थ है तथा स्वच्छता अन्य। जो वस्तु पवित्र होगी वह निश्चित ही स्वच्छ होगी, किंतु जो वस्तु स्वच्छ है; आवश्यक नहीं कि वह पवित्र होगी ही। इसलिये भोजन आदिमें पावित्र्यबोध ही उसका यथार्थ संस्कार है। आजकल रसोईघरोंमें स्वच्छतापर ही ध्यान दिया जाता है पवित्रतापर नहीं, यह बड़े दुःखकी बात है।

भोजनमें भावकी शुद्धता परम आवश्यक है। शबरीके बेर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कितने प्रेमसे खाये। भगवान् श्रीकृष्णने भावदोषके कारण दुर्योधनके यहाँ भोजन नहीं किया, लेकिन विदुरजीके यहाँ केलेके छिलके खाये—इसमें भगवान् और भक्तके भावकी एकरूपता है।

एक नेवला भोजनकी लालसासे एक तपस्वी ब्राह्मणके घरमें गया। वह ब्राह्मण तो गरीब था, खिलानेके लिये केवल सत्तू ही था, लेकिन इतने प्रेमसे खिलाया और अन्नमें इतनी पवित्रता थी कि नेवलेका अर्धाङ्ग सोनेका हो गया, पुनः वही नेवला धर्मराजके यज्ञमें गया तो उसने उस यज्ञकी निन्दा की, इसलिये कि वहाँ भोजन करनेसे उसका शेष शरीर सोनेका नहीं बना। इसमें मुख्य बात अन्नकी पवित्रता ही थी। राजाका यज्ञ युद्धके धनसे हुआ था।

भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि कहते हैं, हमने कौरवोंके घरका अन्न खाया है, इसीसे हमारी बुद्धि ऐसी बन गयी। श्रीमद्भगवद्गीता (३।१३)-में कहा गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

कारण कि यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर-पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।

आज तो संस्कृति और संस्कार नामका मूल्य ही नष्ट हो गया है। पाश्चात्त्य संस्कृति ही हमारी 'बफे' संस्कृति बन गयी है। खाने-पीने आदिमें कोई विचार ही नहीं रह गया है। ऐसेमें संस्कार कैसे स्थिर रहेंगे और कैसे हमको सुसंस्कारित जीवनमूल्य प्राप्त होगा?

पृथ्वीमाताका प्रसाद—धान्य भी आज कुसंस्कारित हो गया है। इसलिये हमारा उदरस्थ वैश्वानर ही रोग बन गया। आज अनावृष्टिके कारण दुर्भिक्ष, जमीनमें उष्णता, पृथ्वीकी उर्वराशक्तिका क्षीण होना इत्यादि—इस प्रकार सारी प्रकृति ही रोगयुक्त बन गयी है तो फिर अन्नके संस्कार कैसे रहेंगे? बीज संकरित हैं, उसपर हर प्रकारकी रासायनिक प्रक्रिया, दूषित खाद, जन्तुनाशक दवाएँ—इससे अन्न संस्कारित कैसे रहेगा! इसीसे हमारी आयुकी मर्यादा घट गयी, हमारे विचार दूषित हो गये। भ्रष्टाचार ही हमारा सबसे बड़ा आचार बन गया तो

अन्न-संस्कार कैसा रहेगा? कोल्ड ड्रिंक और डिब्बायुक्त भोजनसे हमारी संस्कृति, हमारी जीवन-नौका कैसे स्थिर एवं सुखी रह सकेगी? हमारा सूक्ष्म शरीर और मन—दोनों आज संस्कारहीन बने रहे तो अगला जन्म कैसा होगा, इसपर भी विचार करना चाहिये।

आश्रयदोष और अन्नदोष शरीरमें कैसे प्रविष्ट होता है, इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त प्रस्तुत है—एक जंगलमें एक साधु रहता था। दैवयोगसे एक दिन उसके मनमें पायस (खीर) खानेकी इच्छा हुई। इसलिये वह गाँवमें आकर पायसकी भिक्षा माँगने लगा, किंतु उसे वह भिक्षा सुलभ नहीं हुई। अब वह पायसकी तृप्तिके लिये राजमन्दिरमें गया। राजाने भोजनका प्रबन्ध किया और साधु उत्तम पायसका यथेच्छ भोजन कर शयनगृहमें विश्राम करने लगा। सामने रत्नहार चमक रहा था। साधुके मनमें वह रत्नहार लेनेकी इच्छा हुई। चुपकेसे साधु वह हार कमण्डलुमें डालकर जंगलमें चला गया।

वह संस्कारी साधु था। कुछ क्षणके लिये उसकी बुद्धि मोहग्रस्त हो गयी थी। पेटमें जो पायस था, वह मलके रूपमें बाहर निकल गया तो पुनः उसकी सदसद्विवेकी बुद्धि जाग्रत् हुई। वह रत्नहार लेकर राजाके महलमें आया और उसने रत्नहार वापस देते हुए राजासे कहा कि इसे मैंने ही चुरा लिया था, परंतु राजाको विश्वास नहीं हुआ। बादमें साधुने पायसमें डाले गये चावलोंके विषयमें पूछा कि चावल कहाँसे आये थे? पता लगा कि राजाके सिपाहियोंने चोरोंसे हस्तगत करके राजाके भण्डारमें जमा किये थे अर्थात् चोरीके चावलसे पायस बना था। साधुको यह समझते देर नहीं लगी कि दूषित अन्न-सेवनके प्रभावसे उसके विचार भी दूषित हो गये थे। उसे बड़ी ग्लानि हुई और उसने यह सङ्कल्प लिया कि साधुके लिये वन्य कन्द, मूल, फलोंका सेवन ही श्रेयस्कर है और रसनाका स्वाद महान् पतन करानेवाला है। राजा भी अन्नका प्रभाव देखकर सावधान हो गये कि जब एक बारके कुसंस्कारित अन्नसे साधु महात्मा चोर बन गये तो सामान्य मनुष्योंकी बात ही क्या!
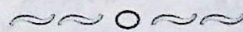
~~~ o ~~~

षोडश संस्कारोंमें चूडाकरणका महत्त्व

(पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय 'किशन महाराज')

संस्कारोंके द्वारा हमारा पुनर्जन्म होता है। जैसे धातुपात्रोंमें मलापनयन एवं गुणानुसंधानहेतु घर्षण, मार्जन आदि संस्कारोंसे उन्हें चमकीला एवं सुन्दर बनाया जाता है, सोनेको तपाने, छीलने आदिकी प्रक्रियासे कुन्दन बनाया जाता है, तद्वत् गर्भके मल-मूत्रादिसे संनद्ध इस शारीरिक पिण्डको अग्न्यादि संस्कारयुक्त जातकर्म-नामकर्म, पञ्चगव्यप्रोक्षण, अवघ्राण एवं प्राशनादि संस्कारोंसे संस्कृत किया जाता है और ऐसा करना आवश्यक भी है।

गर्भाधानादि संस्कारोंका तात्पर्य भी मुख्यतः मलापनयन एवं अतिशयाधानादिद्वारा आत्मशुद्धिविधानसे ही है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

(मनुस्मृति २। २७-२८)

भाव यह है कि गर्भाधानादि संस्कारोंद्वारा बीजादि-निहित पैतृक-दोष और गर्भवासादिप्राप्त अशुचिप्राय मातृक-दोष दूर होते हैं तथा स्वाध्याय-व्रतादिद्वारा शरीरावच्छिन्न आत्मामें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता आती है। ऐसा भगवान् मनुका कहना है।

आधुनिक चिकित्सा-वैज्ञानिक एवं मेडिकल साइंसवाले भी अब भारतीय आर्य हिन्दू सनातन संस्कारविधिको मानने लगे हैं। हमारे यहाँके कर्णवेध आदि संस्कारोंका मुख्य आधार लेकर एवं उसी विज्ञानकी दिशामें प्रेरित होकर एक्यूप्रेशर एवं एक्यूपंक्चर चिकित्सा-पद्धति विकसित की
~~~

गयी है। अतः हमारे आर्ष मनीषी महात्मा मनु, याज्ञवल्क्य, हारीत, गौतम, वसिष्ठ, गर्गादि महर्षिगणोंद्वारा प्रदत्त संस्कारविधि—संस्कार-विज्ञान यथा—गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, यज्ञोपवीतधारण (उपनयन), विद्यारम्भ आदि समस्त संस्कारोंकी वैज्ञानिकता और उपादेयता सर्वथा असंदिग्ध है।

पहले जो लोग बालकका चूडाकरण-संस्कार करते थे, उस समय उसकी शिखा रखी जाती थी। शिखाके कारण सिर एवं ब्रह्मरन्ध्रकी रक्षा होती थी और शिरःशूल तथा शिरोरोग नहीं होते थे। आजकल ब्रेनहेमरेज आदि भयंकर रोग हो रहे हैं, इसलिये शिखा अवश्य रखनी चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें शिखायुक्त, शिखाबन्धनादिकर्म-युक्त होकर ही संध्या-वन्दनादि शुभ कर्मोंमें अधिकार दिया गया है। विशिख—शिखाहीन व्यक्तिको धर्मानुष्ठानमें भी वर्जित, गर्हित, अग्राह्य किंवा बाह्य बताया गया है। यथा—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(कात्यायनस्मृति १।४)

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥

(व्यास)

शिखाकरण (मुण्डन, चूडाकरण-संस्कार, चूडाकर्म-विधि)—इस संस्कारको चौलकर्म भी कहते हैं। प्रत्येक हिन्दू भारतीयके लिये शिखाधारण कर्म अनिवार्यमात्र ही नहीं, अपितु एक प्रकारसे भारतीयता—हिन्दुत्वका सूचक भी है।

चूडाकरण (शिखा)-के बिना आगे उपनयन, समावर्तन आदि क्रियाओंका अधिकार नहीं माना जाता है। वर्णाश्रमधर्मको मानकर चलनेवालोंके लिये यह संस्कार आवश्यक है। अपराधियोंके दण्डविधानमें शिखामुण्डन भी एक दण्ड कहा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदिके लिये शिखा मुख्य मानी गयी है। शिखाका रक्षण प्राणरक्षणके समान है।

संस्कार दृष्टोपकारक, अदृष्टोपकारक तथा दृष्टादृष्टोपकारक भेदसे तीन प्रकारके माने गये हैं। इनमें चौल-संस्कारको दृष्टोपकारक कहा जा सकता है। दृष्टफलक कर्मोंमें नियम-विधि मानी जाती है। नियम-विधिका तात्पर्य है कि विधि जिस फलको प्राप्त करनेके लिये जिस साधनका विधान करती है, दूसरे साधनसे भी उस फलके प्राप्त हो जानेपर विहित साधनका ही ग्रहण करना। इस प्रकार नियमका फल अदृष्ट हो सकता है। मस्तकके प्राणस्थानका रक्षण टोपी, साफा या हैट आदिके लगानेसे भी हो सकता है, किंतु शिखासे ही रक्षण करना चाहिये, यह नियम-विधि है।

प्राणधारक उस शिखाके रक्षणके निमित्त टोपी पहनना या साफा बाँधना हिन्दू सनातनियोंका वेष है। टोपी पहनना, साफा बाँध लेना—यह अलंकरणमात्र नहीं, अपितु शिखारक्षणके लिये हमारी संस्कृतिके अन्तर्गत है।

चूडाकर्मका समय—बच्चेके एक वर्ष पूर्ण होनेपर या तीसरा वर्ष पूर्ण होनेसे पूर्व चूडाकर्मका मुख्य काल है। बच्चेके जन्मनक्षत्रसे ताराबल, चन्द्रबल आदि देखकर शुभ योगके दिन चूडाकर्म करना चाहिये। यदि शुभ दिनका निर्णय स्वयं न कर सकते हों तो अनुभवी वृद्ध या ज्योतिषीके द्वारा दिन और लग्नको जानकर इसको करना चाहिये। स्मृतियोंमें उपनयनके साथ जन्मसे सातवें, आठवें वर्षमें भी चूडाकर्मका विधान मिलता है, किंतु वह गौणकाल है; क्योंकि यदि किसी कारण मुख्य काल छूट गया हो तो संस्कार छूटने न पाये—इस दृष्टिसे यह विधान है। गौणकाल ही सही—इसमें चूडाकरण-संस्कारको सम्पन्न होने देना चाहिये।

वर्तमान समयमें लोगोंकी यह धारणा बन गयी है कि एकका गौणकाल कहा गया है तो उपनयनको विवाहके साथ कराया जाय। आजकल कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि विवाहके दिन वरके जातकर्मसे लेकर उपनयनतकके संस्कार किये जाते हैं। यह एक प्रकारकी विडम्बना ही है।

चूडाकर्म-विधि—निर्दिष्ट शुभ दिनमें बच्चेको

मङ्गलस्नान कराकर, धौतवस्त्र पहनाकर माता-पिता स्वयं स्नानादिसे शुद्ध होकर धौतवस्त्र धारण करें। माता-पिता ग्रन्थिबन्धनपूर्वक बैठें। माता बच्चेको गोदमें लेकर अग्निकुण्डके पीछे पतिके साथ बैठे। पति गणपति-पूजन, कलश-स्थापन आदि पञ्चाङ्गकर्म करे। लौकिक अग्निको दीप्तकर ब्राह्मणवरणपूर्वक हवन-कर्म करे।

हवन-कार्य पूर्ण हो जानेपर बालकके केशोंको मुलायम करनेके लिये किसी पात्रमें ठण्डा जल लेकर उसमें गरम जल मिलाना चाहिये। उसके लिये मन्त्र है—

'उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वप॥'

अर्थात् हे वायो! उष्णजलके साथ आओ। हे अदिते! हिंसा नहीं करनेवाले देव! तुम बालोंको निकालो। गरम जलको स्वयं लाते हुए भी अपनेको वायुदेवका रूप समझकर मन्त्र बोला जाता है तथा अपनेको अदितिदेव समझकर कहा जाता है। अनन्तर गरम जलसे मिले हुए जलमें थोड़ा मक्खन या घृत अथवा दही छोड़ना चाहिये।

छुरेकी धारसे आघात न पहुँचे, इसलिये इसको मक्खनसे नरम एवं चमकीला आदि कर लेना चाहिये। पिता पहले शीतोष्ण जलसे अपने बच्चेके दक्षिणभागके बालोंको भिगोकर मुलायम बनाता है। भिगोनेका मन्त्र है—

'ॐ सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चस इति।'

अर्थात् हे कुमार! सूर्यके द्वारा उत्पन्न ये जल तुम्हारी चूडाको कोमल करें। ये जलदेवता तुम्हारे आयुष्य, तेज और ऐश्वर्यको बढ़ायें।

अनन्तर साहीके कण्टकसे बालकके सिरके बालोंको तीन भागोंमें विभक्तकर भिगोये हुए बालोंमें तीन कुशोंको रखे। पुनः **'ॐ ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः'** हे ओषधे! रक्षा करो—कहकर प्रार्थना करे।

पुनः **'ॐ शिवो नाम०'**[1] कहकर छुरेको हाथमें लेना चाहिये। 'तुम मङ्गलकारी हो'—यह मन्त्रका अर्थ है। **'ॐ नि वर्त्तयामि०'**[2] कहकर छुरेको कुशासे अन्तर्हित केशोंमें रखकर—

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथा सत्॥

—इस मन्त्रसे कुशासहित केशको काटना चाहिये। मन्त्रका भाव यह है—हे ब्राह्मण! जिस छुरेसे विद्वान् सवितारूपी पिताने सोम और वरुण राजाके बाल बनाये, उस छुरेसे इस कुमारके बालोंका मुण्डन (वपन) आपलोग करें, जिससे यह बालक दीर्घायु हो और हृष्ट-पुष्ट हो।

इस प्रकार बालोंको काटकर कुशसहित केशोंको हवनवेदीके उत्तर भागमें रखे गये गोमयपिण्डमें डाल देना चाहिये। ऐसा बिना मन्त्रके दो बार करना चाहिये। अनन्तर पश्चिमभागके केशोंको पूर्ववत् मन्त्रोंसे भिगोकर **'त्र्यायुषम्०'**[3] मन्त्रसे एवं उत्तरभागके केशोंको पूर्ववत् भिगोकर निम्न मन्त्रसे छेदन करना चाहिये—

'ॐ येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तय इति॥' (पा०गृ०सू० २।१।१६)

मन्त्रका आशय है—हे कुमार! जिस मन्त्रसे सर्वत्र बहुत समयतक संचरणशील प्रचर-वायु द्युलोकके चारों ओर एवं सूर्यके चारों ओर संचारशील है, उस मन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित छुरेसे जीवनके आधारभूत धर्मानुष्ठान एवं अच्छे यश और कल्याणके लिये तुम्हारे बालोंका वपन करता हूँ।

इस प्रकार बोलकर छुरेसे सिरकी तीन बार परिक्रमा कराकर जलसे सिरको कोमल करे। पुनः हे नापित! जिस तरह घाव न हो, शिखाकी रक्षा करते हुए बालोंको बनाओ—यह कहकर उसे छूरा दे देना चाहिये। अपनी परम्परागत रीतिसे शिखाकर्म करके केशोंको गोमयपिण्डमें रखकर उसे किसी गोष्ठमें या तालाबके किनारे गाड़ दे। आचार्यको गौका दान देना चाहिये। तत्पश्चात् बालकको नहलाकर परम्परानुसार तिलक लगाये तथा नया वस्त्र

१. ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः।

२. ॐ नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥

३. ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ (यजु० ३।६२)

पहनाये। बालक आचार्यको प्रणाम करे तथा आचार्य आशीर्वाद प्रदान करें।

यह विशेष बात है कि संस्कारोंकी प्रक्रियामें कहीं-कहीं भिन्नता मालूम पड़ती हो तो अपनी परम्परासे सिद्ध प्रक्रियाको ग्रहण करना उचित है। उसी परम्पराका आश्रय लेकर ही गृह्यसूत्रकार प्रवृत्त होते हैं। यह चूडाकर्म-संस्कार दृष्टप्रयोजनवाला होता हुआ नियमजन्य अदृष्ट-फलवाला भी माना जाता है। अदृष्ट एवं अप्रत्यक्ष फलोंके प्रामाण्यमें अतीन्द्रिय ज्ञान तथा वेदका प्रमाण अथवा शास्त्रदृष्टिसे ही फलाफलका बोध होता है।

चूडाकर्मसे आयुवृद्धि—इस संस्कारमें प्रयुक्त मन्त्रोंद्वारा आयुष्यवृद्धिकी बात प्रतिपादित है। क्या चूडाकर्म एवं आयुका घनिष्ठ सम्बन्ध है? विचार करनेपर प्रतिपादित होता है कि बच्चेके उत्पन्न (जन्म) होनेके समय उसके मस्तकका मध्यभाग अत्यन्त कोमल होता है। यही मानवका प्राणस्थान है। यहाँ चोट लगनेपर मनुष्यको जीवनहानि हो सकती है। योगी-मुनि इसी भागको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इसी भागसे सिद्ध पुरुष प्राणोत्सर्ग भी करते हैं। अतएव संन्यासियोंका देहान्त होनेपर मस्तकके इसी भागपर नारियल फोड़कर चोट करते हैं अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राण शरीरसे निष्कासित हुए—यह प्रतीत होता है। इस क्रियाको 'कपालक्रिया' भी कहते हैं। गृहस्थजनोंमें मृत प्राणीके दाह-संस्कारोपरान्त यह क्रिया पुत्रको सम्पन्न करनी पड़ती है।

अतः यह भाग मनुष्यके लिये मुख्य माना जाता है। अतएव सिरको उत्तमाङ्ग कहा जाता है। इस स्थानके रक्षार्थ ही प्राचीन मनीषियोंद्वारा चूडाकर्म-संस्कार विहित किया गया है।

धर्मशास्त्रोंमें वर्णित है कि गौ अथवा अश्वके खुर जितनी शिखा होनी चाहिये। इतनी घनी शिखा रखनेपर मस्तिष्कका वह कोमल भाग शिखासे आच्छादित होकर सुरक्षित रहता है। अतएव चूडाकर्मके साथ आयुष्यसम्बन्ध साक्षात् प्रतीत होता है।

शिखाके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले कुछ आप्त वचन इस प्रकार हैं—

१. स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

२. दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्।

३. शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

(लघुहारीत)

४. अथ चेत् प्रमादान्निशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धा-दवतिष्ठेत्॥ (काठकगृह्यसूत्र)

अत्यधिक रुग्णावस्था या जीर्णावस्थाके कारण शिखाके झड़ जानेपर या खल्वाट (गंजा) हो जानेपर कुशादिकी शिखा धारण करके नित्यकर्म करे, पर शिखाशून्य कभी न रहे—

सप्तत्यूर्ध्वं तु चेत्तस्याः पूर्वतः पृष्ठतोऽपि वा।
पार्श्वतः परितो वापि समुद्भूतैश्च रोमभिः॥
शिखा कार्या प्रयत्नेन न चेन्नैवोपपद्यते।
तत्स्थाने सर्वशून्ये तु परितो वापि किं पुनः॥
ब्राह्मण्यसूचनायैवं तानि लोमानि धारयेत्।
अन्यथा न भवेदेव तथा तस्मात्समाचरेत्॥

शिखा रखनेके लाभ

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि—

१. शिखा रखने तथा उसके नियमोंका यथावत् पालन करनेसे मनुष्यको सद्बुद्धि, सद्विचार आदिकी प्राप्ति होती है।

२. शिखा रखनेसे आत्मशक्ति प्रबल बनी रहती है।

३. शिखा रखनेसे मनुष्य धार्मिक, सात्त्विक और संयमी बनता है।

४. शिखा रखनेसे मनुष्य लौकिक तथा पारलौकिक—समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है।

५. शिखा रखनेसे मनुष्य प्राणायाम, अष्टाङ्गयोगादि यौगिक क्रियाओंको ठीक-ठीक कर सकता है।

६. शिखा रखनेसे देवता मनुष्यकी रक्षा करते हैं।

७. शिखा रखनेसे मनुष्यकी नेत्रज्योति सुरक्षित रहती है।

८. शिखा रखनेसे मनुष्य स्वस्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी और दीर्घायु होता है।

९. **बलायुर्वयो वृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम्**—बल, आयु एवं तेजकी वृद्धि ही चूडाकर्म-संस्कारका फल है। महर्षि वसिष्ठका वचन है—'**चौलेनैवायुषो वृद्धिः**'।

१०. चूडाकरणसे त्वचासम्बन्धी रोगोंका नाश होता है। शिखा रखकर शेष बालोंको मुँड़ा देनेसे रक्तविकार, तापजन्य (गरमीजन्य) तापमान कम हो जाता है। बालकोंके फोड़े-फुंसी समाप्त हो जाते हैं।

११. मुण्डनके पश्चात् सिरमें मलाईकी मालिश करनेसे मस्तिष्कको शीतलता मिलती है और बौद्धिक विकासका मार्ग प्रशस्त होता है।

१२. गोखुराकार अर्थात् गायके खुरके सदृश प्रमाणकी शिखा रखनेसे दशमद्वारकी रक्षा होती है।

१३. शिखाधारणसे सुषुम्णा नाडीकी रक्षा होती है। सुषुम्णाके नीचे बुद्धितत्त्वका केन्द्र है, इसकी रक्षा शिखाधारणसे होती है।

१४. महर्षि चरकने मुण्डन एवं क्षौरका महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्॥

अर्थात् क्षौरादि कर्म करवानेसे, नाखून कटवानेसे एवं शिखाके बन्धन, मार्जन आदि कृत्योंसे पुष्टि, बल, वीर्य, आयु, पवित्रता एवं सुन्दरता आदिकी वृद्धि होती है।

अतः समस्त हिन्दू सनातन वेदप्रमाण माननेवालोंको बल, आयु एवं तेजकी वृद्धिके लिये शिखाधारणके महत्त्वको समझना चाहिये।

किंतु विडम्बना है कि आज शिखासूत्रका परित्याग गौरवका विषय बन गया है। गुरुकुलप्रणालीकी शिक्षा-पद्धतिमें मुण्डन, चूडाकर्म, उपनयन एवं वेदारम्भकी शिक्षा-दीक्षामें संध्या, गायत्री, अग्न्याधान आवश्यक कर्तव्य थे। जबतक यह परम्परा सुरक्षित थी, तबतक हमारी संस्कृति बची हुई थी, किंतु आजकी तथाकथित महत्त्वाकाङ्क्षाने शिखासूत्रको लील लिया है। जो कार्य वेन, रावण, कंस, चंगेज खाँ, अलाउद्दीन, औरंगजेब आदिने नहीं किया था, उनके शासनकालमें जितना ह्रास नहीं हुआ, उससे कई गुना अधिक ह्रास आज स्वतन्त्रताके बाद वर्तमान शिक्षापद्धति और वेस्टर्न कल्चरके अनुगमनसे हो रहा है। अतएव बच्चोंका उचित समयमें ही चूडाकर्म करवा देना चाहिये, जिससे उन्हें स्वधर्मका गर्व हो। जो माता-पिता अपने बालकोंके मुण्डन एवं यज्ञोपवीत-संस्कार उचित समयपर दृढ़तापूर्वक नहीं कराते, उनके बच्चे कालान्तरमें बड़े नास्तिक और उच्छृंखल बन जाते हैं। कहाँतक कहा जाय माता-पिताकी मृत्युपर क्षौर—मुण्डनतक करानेमें तथाकथित सभ्य लोगोंको लज्जा लगती है!

शिखाबन्धनके कुछ विशिष्ट प्रयोग

क-वैदिक सन्ध्या-वन्दनमें—'**मा नस्तोके०**'* **इति मन्त्रेण शिखाबन्धनं कुर्यात्**' ऐसा आदेश है।

ख-पौराणिक विधिमें द्विजेतर, अनुपनीत, अनधीत वेदवालोंके लिये निम्नाङ्कित विधिसे शिखाबन्धन करनेका निर्देश है—

ब्रह्मनामसहस्त्रेण शिवनामशतेन च।
विष्णुस्मरणमात्रेण शिखाबंधं करोम्यहम्॥

वैदिक-पौराणिकमिश्रित विधितन्त्र

चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजःसमन्विते।
तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजोवृद्धिं कुरुष्व मे॥

ब्राह्मणके लिये गायत्रीमन्त्रका मानसिक जप करके शिखाबन्धनका आदेश प्राप्त है।

सनातन संस्कारोंका विधान जीवके कल्याण एवं श्रेय-प्रेय-प्राप्तिके लिये है। यही धर्मका उद्देश्य है।

श्रुतिवचनोंमें धर्महेतु संस्कारोंका प्राधान्य है। षोडश संस्कारोंमें मुण्डन, चूडाकरण या चूडाकर्मका विशिष्ट महत्त्व है।

---
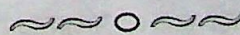
* मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥

श्रीनिम्बार्क-वैष्णव-परम्परामें संस्कारोंका अवदान

(प्राचार्य श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय, निम्बार्कभूषण, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य)

भारतवर्षीय वैदिक संस्कृति संस्कारोंपर आधारित है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें विविध संस्कारोंका विस्तृत वर्णन मिलता है। मनुष्य-जीवनमें गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कार शास्त्रीय पद्धति एवं लोकरीतिके अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं। जड़-चेतन सभी पदार्थोंका प्राकृतिक और सामाजिक रूपमें संस्कार होता है। संस्कारमें प्रमुखतासे दोषापनयन, गुणाधान एवं हीनाङ्गपूर्ति—ये तीन विधियाँ होती हैं। मनुष्य-जीवनमें प्रथमतः जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण आदि संस्कार दोषापनयनके रूपमें; कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन आदि संस्कार गुणाधानके रूपमें और विवाह-संस्कार तथा अन्य दीक्षादि संस्कार हीनाङ्गपूर्तिके रूपमें समझने चाहिये। यद्यपि द्विजातियोंके लिये उपनयनके बाद जो ब्रह्मगायत्रीकी दीक्षा दी जाती है, उसीकी उपासनासे अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। स्त्री, शूद्रोंको विवाह-संस्कारके बाद निष्कपट भावसे गार्हस्थ्यधर्मका पालन करनेपर अभीष्टकी प्राप्ति हो सकती है, तथापि शास्त्रोंमें उपासना-आराधनाभेदसे शैव, वैष्णव-परम्परामें विभिन्न प्रकारसे दीक्षा-संस्कारकी इतिकर्तव्यता तदनुसार उमा-महेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम एवं राधाकृष्ण युगलस्वरूपोंकी उपासना भी विहित है।

प्रस्तुत निबन्धमें वैष्णवी दीक्षामें विहित संस्कारोंका परिचय तथा उनका महत्त्व बतलानेका प्रयास किया जा रहा है। 'दीक्षा' शब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने इस प्रकार की है—

दीयते ह्यैश्वरं ज्ञानं क्षीयते पापपञ्जरः।
आप्यते वैष्णवं धाम तस्माद् दीक्षोच्यते बुधैः॥

अर्थात् मुमुक्षु साधक तत्त्वजिज्ञासासे जब सद्गुरुकी शरणमें जाता है, तब सद्गुरु उस शरणापन्न साधकको ईश्वरसम्बन्धी नाम, रूप, लीला और धामका ज्ञान कराते हैं, जिससे मुमुक्षुका जन्म-जन्मान्तरीय पापपुञ्ज क्षीण हो जाता है। तदनन्तर निरञ्जन हुआ वह परम दिव्य भगवद्धामको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः इस संसारमें आगमन नहीं होता। वह अनन्तानन्त ब्रह्मानन्दमें रमण करता है, यही वैष्णवोंका तद्भावापत्ति मोक्ष है।

'विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्' अर्थात् भगवान् विष्णुकी वह दुरत्यया बलवती माया है, जिसने विश्वको अपने मोहजालमें जकड़ रखा है। स्वयं प्रभु अर्जुनको संकेत करते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१४)

अर्थात् हे अर्जुन! मुझ सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, शक्तिशाली परमेश्वरकी वशवर्तिनी त्रिगुणमय कार्यद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाली यह दैवी माया अत्यन्त दुरत्यया है। मेरे अनुग्रहके बिना सहस्रों अन्य उपायोंद्वारा पार नहीं की जा सकती। ऐसा होनेपर भी अनन्त जीवोंमें जो कोई मेरी शरणमें आ जाते हैं, स्वपुरुषार्थ एवं अभिमानको त्यागकर मुझको ही साधन-साध्य समझकर भजते हैं, वे ही मेरी इस मायाको तरते हैं। इस प्रकार माया-संतरणमें शरणागति-साधनको प्रबल साधन बताया गया है। श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेता० ६।१८)

भाव यह कि जो परमात्मा सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न कर उनको स्वाधिकारमें स्थापित करके अधिकार-निर्वाहहेतु वेदराशिका उपदेश देते हैं और जीवोंकी बुद्धिके प्रकाशक हैं, उन्हीं श्रीहरिकी शरणमें मैं मुमुक्षुभावसे प्राप्त होता हूँ। अर्जुन भी जब **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कहकर स्वकर्तृत्वाभिमानको छोड़ शरणागत हो गया, तभी सर्वेश्वर श्रीकृष्णने उसे गीतातत्त्वका उपदेश दिया। प्रभु कहते हैं—परब्रह्म तत्त्वको जाननेके लिये श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषकी शरणमें जाना चाहिये। सेवा, शुश्रूषा, विनय, परिप्रश्नद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेपर वे तत्त्वदर्शी आचार्य तत्त्वज्ञान (ब्रह्मविद्या)-का उपदेश करेंगे—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**' इत्यादि श्रुति-स्मृति, प्रमाणोंसे दीक्षा-ग्रहणके लिये सद्गुरुके पास जानेकी विधिका निर्देश मिलता है। वैष्णवी दीक्षामें पाँच संस्कार बताये गये हैं—ऊर्ध्वपुण्ड्र, शङ्ख-चक्र, तुलसी-कण्ठी, नामकरण एवं मन्त्रोपदेश।

१-ऊर्ध्वपुण्ड्र या द्वादश तिलकधारण—आचार्य उपवास, स्नान, पञ्चगव्यप्राशन आदिके द्वारा शिष्यको प्रायश्चित्त कराकर शुभ मुहूर्तमें भगवदाराधनपूर्वक अत्यन्त स्नेहभावसे सर्वप्रथम गोपीचन्दनद्वारा उसके ललाटादि द्वादश अङ्गोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण कराते हैं। भगवान्के द्वादश व्यूह-नामोंका उच्चारण करते हुए प्रति अङ्गमें तिलक धारण किया जाता है। जैसे—

ॐ केशवाय नमः ललाटे, ॐ नारायणाय नमः उदरे, ॐ माधवाय नमः वक्षःस्थले, ॐ गोविन्दाय नमः कण्ठे, ॐ विष्णवे नमः दक्षिणकुक्षौ, ॐ मधुसूदनाय नमः दक्षिणबाहौ, ॐ त्रिविक्रमाय नमः दक्षिणकन्धरे, ॐ वामनाय नमः वामपार्श्वे, ॐ श्रीधराय नमः वामबाहौ, ॐ हृषीकेशाय नमः वामकन्धरे, ॐ पद्मनाभाय नमः पृष्ठे, ॐ दामोदराय नमः कट्याम्।

२-शङ्ख-चक्राङ्कन—इस प्रकार प्रथम संस्कार द्वादश तिलक धारण करनेके पश्चात् भगवान्के दिव्यायुध शङ्ख-चक्रके प्रतीकोंका अर्चनकर निम्न मन्त्रका उच्चारण करते हुए गोपीचन्दनसे शीतल चक्र धारण कराते हैं—

सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्यसमप्रभ।
अज्ञानतिमिरान्धस्य विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय॥

तदनन्तर वामबाहुमें निम्न मन्त्र कहकर शङ्खमुद्रा धारण कराते हैं—

पाञ्चजन्य निजध्वानध्वस्तपातकसञ्चय।
पुनीहि पापिनं घोरं संसारार्णवपातिनम्॥

निम्बार्क-वैष्णवपरम्परामें द्वारकाधाममें जाकर तप्त-मुद्रा धारण करनेकी आज्ञा है। यह द्वितीय संस्कार है।

३-तुलसी-कण्ठी-धारण—तृतीय संस्कारमें निम्न मन्त्र कहकर शिष्यके कण्ठमें तुलसी-कण्ठी धारण कराते हैं—

तुलसीकाष्ठसम्भूतां मालां यो वहते नरः।
कोटिजन्मसमुद्भूतं पापं तस्य विनश्यति॥

४-नामकरण—चतुर्थ और पञ्चम संस्कार आभ्यन्तर संस्कार हैं। चतुर्थ संस्कारमें गुरुदेव शिष्यको भगवत्सम्बन्धी नामसे विभूषित करते हैं। राधिकाशरण, कृष्णशरण, केशवदास, गोविन्ददास, ललितासखी, विशाखासखी माधवीसखी हरिप्रियासखी इत्यादि भगवत्प्रपन्नबोधक या ब्रह्मसम्बन्धबोधक नाम रखे जाते हैं।

५-मन्त्रोपदेश—पञ्चम संस्कारमें मुकुन्दमन्त्र और गोपालाष्टादशाक्षर—इन मन्त्रद्वयका उपदेश एवं उपासनाविधिका निर्देश दिया जाता है।

इस प्रकार पञ्च संस्कारोंसे सम्पन्न हो जानेपर आचार्य शिष्यको भगवत्प्रतिमा या अर्चाविग्रह शालग्रामस्वरूपका विधिवत् पूजन कराकर उनके समक्ष गोसृत्ववरणपूर्वक दैन्यादिभावरूप शरणागतिका दिग्दर्शन कराते हैं। तदनन्तर वैष्णवोंके कर्तव्य, आचार-विचार, दिनचर्या, गुरुपरम्परा तथा सेवापराध आदिका उपदेश प्रदान करते हैं।

इस प्रकार वैष्णवी दीक्षासे सम्पन्न वैष्णवजन हरि-गुरु-सेवा-परायण रहते हुए अपने जीवनको परम पावन बनाते हैं। उनके मनमें यह दृढ विश्वास हो जाता है कि हमारे आराध्य युगलस्वरूप श्रीराधामाधव ही हमारी सर्वतोभावेन रक्षा करेंगे। वे अपने-आपको अकिञ्चन सेवकरूपमें समझते हैं। यही वैष्णवताका लक्षण है।

साधारण व्यक्ति भी यदि वैष्णवी दीक्षासे दीक्षित होता है तो उसकी दिनचर्या बदल जाती है, वह इन संस्कारोंका महत्त्व समझते हुए अपेयपान, अभक्ष्य-भक्षण, अकार्यकरण, अग्राह्यग्रहण आदि दोषोंसे बच जाता है। उसके जीवनके अनेक दुर्व्यसन छूट जाते हैं, वह एक नियम, एक मर्यादामें बँध जाता है। अधिक-से-अधिक परोपकार करनेकी भावना उसके मनमें जाग्रत् होती है। यह है वैष्णव-परम्परामें संस्कारोंका अवदान। दयाहीन, अविवेकी एवं क्रूर व्यक्ति भी वैष्णवता प्राप्त कर दयावान् बन जाता है। स्वभावको बदलनेकी अपार शक्ति वैष्णवतामें देखी जाती है।

इस सम्बन्धमें एक अनुभूत प्रसङ्गका उल्लेख करना

यहाँ प्रासङ्गिक होगा—'नेपालके मध्य-पश्चिमाञ्चल-क्षेत्रमें पोखरासे ४० किलोमीटर दक्षिण दिशामें पर्वतमालाओंकी सुरम्य उपत्यका एवं पुण्यसलिला, कलकलनिनादिनी श्रीकृष्णा गण्डकीके रमणीय तटपर श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायका श्रीराधादामोदरमन्दिर, सांखर केलादी घाट (स्याङ्जा) नामक भव्य आश्रम है। उसके संस्थापक गोलोकवासी अनन्तश्री सार्वभौमाचार्य श्रीभगवत्‌शरणदेवजी महाराज थे। महाराजश्रीके विरक्त शिष्य श्रीदामोदरशरणजीने एक आपबीती घटना इस प्रकार सुनायी—पूज्य महाराजश्रीको एक सत्सङ्ग-समारोहमें भाग लेने आश्रमसे दूर जाना था। मुझे भी साथ चलनेकी आज्ञा हुई। माघका महीना, शीतकालका समय था। मार्गमें चलते-चलते सूर्यास्त हो गया, गन्तव्य-स्थल अभी दूर था। इसलिये ग्रामके एक धन-धान्यसम्पन्न व्यक्तिके घरपर रात्रिविश्रामहेतु पहुँचना पड़ा। उन्हें साधु-महात्मा, योगी-यतियोंसे चिढ़ थी, उन्होंने कभी सत्सङ्गति की नहीं थी, अतः वे संतोंका स्वरूप नहीं पहचानते थे। अपने घरपर संतोंको ठहरने देना नहीं चाहते थे, फिर भी मानवताके कारण और 'शीतकालीन अँधेरी रातमें चार-छः घण्टे विश्राम करके चले जायँगे', इस विचारसे रहने भरके लिये स्थान दे दिया। भोजनके लिये न तो स्वयं पूछा, न मूल्य लेकर दाल-चावल आदि कच्ची वस्तुकी व्यवस्था की। हम भूखे सोने लगे। वे जब भोजन करने अपने चौकेमें गये तो संयोगसे उस समय बिल्ली-कुत्ते कहींसे लड़ते-लड़ते उनके पास पहुँचे और भोजनको उच्छिष्ट कर गये। चौका और सब भोजन-सामग्री अपवित्र समझकर उन्होंने न स्वयं भोजन किया, न घरके दूसरे लोगोंको करने दिया। वे मनमें सोचने लगे कि ऐसी अप्रिय घटना क्यों घटी? उदास हो गये। उनकी धर्मपत्नी श्रद्धालु थी, उसने समझाया—आपने संध्याकालमें घर आये अतिथिका सम्मान नहीं किया, इसलिये ईश्वरने दण्ड दिया है। अतिथि भगवान्‌का रूप होता है, उनसे क्षमा माँगनी चाहिये। आगे कोई दूसरा अनर्थ न हो जाय, इससे बचिये और सबको बचाइये। पत्नीके समझानेका उनपर गहरा असर पड़ा। तुरंत उठे और परिवारसहित महाराजश्रीके पास जाकर क्षमा-याचना करते हुए भोजन-प्रसाद ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे।

महाराजश्री अपने सहज सौम्य स्वभावके कारण मन्द-मन्द मुसकराते हुए अत्यन्त स्नेह भावसे कहने लगे—'भद्र! आप दुःखी न हों, धर्मका रहस्य समझना बहुत कठिन होता है। भगवत्कृपासे आपके पास अपार धन-सम्पदा है, फिर भी आपको संतोष नहीं है। धनका सदुपयोग दान-पुण्य, अतिथि-सेवा, साधु-सेवा, गोसेवा आदिमें करेंगे तो अपने-आप उसमें वृद्धि भी होगी और मन भी संतुष्ट रहेगा। आपने कभी सत्सङ्ग नहीं किया, अतः आपका मन सदा सशङ्कित, संदेहयुक्त बना रहता है। आपके जीवनका बहुत बड़ा अनिष्ट टल गया, अब मङ्गल-ही-मङ्गल होगा, निश्चिन्त रहें। ईश्वर जिन्हें आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति, विद्या, वैभव, शक्ति प्रदान करता है, उनका कर्तव्य है कि वे उन वस्तुओंसे असहाय, अनाथ, विद्यार्थी तथा साधुजनोंकी सेवा करें।' संतजीने आगे बताया कि कालान्तरमें जब हम उस भक्तके घर गये तो देखा कि उनके जीवनमें वैष्णवताका महान् प्रभाव पड़ा हुआ था, वे बड़े संतसेवी और भगवद्भक्त हो गये थे। सारा गाँव-समाज उनका अनुकरण कर वैष्णव धर्मसे ओत-प्रोत था। यह देखकर मन बहुत प्रसन्न हुआ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह स्पष्ट होता है कि संस्कारोंका अवदान कितना महान् होता है।

~~o~~

बिहारीजीसे विनती

(श्रीवीरेन्द्रजी जैन)

ब्रज धूलि प्राणन सो प्यारी लगे । ब्रज मण्डल माही बसाये रहो॥
रसिकोंके सुसंगमें मस्त रहूँ। जग जालसे नाथ बचाये रहो॥
नित-बाँकी ये झाँकी निहारा करूँ। छबि छाक सो नाथ छकाये रहो।
अहो बाँके बिहारी यही विनती। मोरे नैना सो नैना मिलाये रहो॥

~~o~~

जीवनमें संस्कारोंका विशेष स्थान

(सुश्री अनुराधाप्रसाद)

अङ्गिरास्मृतिके अनुसार जिस तरह बहुत सुन्दर चित्र बनानेके लिये उसके खाकेको सजाने-सँवारने तथा सभी तरहसे उन्नत बनानेके लिये उसमें रंग भरे जाते हैं, उसी तरह समग्र विकासके लिये, चरित्रनिर्माणके लिये विधिपूर्वक किये गये संस्कारोंका होना जरूरी है।

दोषोंका निराकरण तथा कमियोंकी पूर्ति करते हुए शरीर और आत्मामें सर्वातिशायी गुणोंका सम्यक् आधान करनेवाले शास्त्रसम्मत विधिद्वारा उद्भूत गुणातिशयविशेषको संस्कार कहते हैं। संस्कारद्वारा मनुष्योंके दोषोंका अपनयन एवं सम्मार्जन होता है तथा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास होता है। संस्कारोंसे युक्त व्यक्ति तेजस्वितासे पूर्ण अलौकिक प्रभाको प्राप्त करता है। भगवान्‌की सृष्टिमें मानव सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि कृति माना गया है; क्योंकि जड़ एवं चेतन और चेतनमें भी पशु-पक्षियोंकी तुलनामें विवेक, सही-गलतके निर्णय लेनेकी क्षमतासे ईश्वरने उसे ही विभूषित किया है। अच्छे संस्कारोंका होना ही सृष्टिके कल्याण करनेका मूल कारण होता है। इसीलिये अच्छे संस्कारोंके होनेसे ही सृष्टिका कल्याण सम्भव है।

हमारे देशमें हिन्दूधर्मशास्त्रोंके अन्तर्गत सोलह संस्कारोंका वर्णन मिलता है, जिनमें प्राणीके गर्भधारणसे लेकर जीवनपर्यन्त होनेवाले विभिन्न संस्कारोंका विधान हुआ है। बाल्यावस्थामें प्राप्त शिक्षा एवं उपलब्ध वातावरणका उसके ऊपर विशेषरूपसे गहरा प्रभाव पड़ता है एवं यही उसके चरित्रको गढ़ने और उसके संस्कारोंके पनपनेका समय होता है। माता-पिता, घर-परिवारद्वारा जो भी वातावरण उपलब्ध होता है तथा अपने आस-पासका वातावरण भी मनुष्यके संस्कारोंके प्रति विशेषरूपसे कारण हुआ करता है। सबसे पहले तो बालकको अपने माता-पितासे संस्कार प्राप्त होते हैं। पितासे भी पहले एवं ज्यादा संस्कार बालकको माताद्वारा प्राप्त होना बताया गया है। हमेशासे इस बातपर जोर दिया जाता रहा है कि संस्कार अच्छे हों। अच्छे या बुरे जैसे संस्कार होते हैं, वे व्यक्तिके निजी जीवनकी आधारशिला बनते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्मान्तरादि संस्कारोंसहित जन्म लेता है और वे संस्कार चित्तमें प्रारब्धके अधिष्ठानके रूपमें स्थित रहते हैं। जीवनमें उसे पुनः और बहुत-से संस्कार प्राप्त हो जाते हैं और ये पूर्वके संस्कारोंसे मिलकर आनेवाले समयके लिये सञ्चित कर्म बन जाते हैं। सारे संस्कार प्रच्छन्न कार्यकलापके रूपमें चित्तमें निश्चेष्ट पड़े रहते हैं, न केवल इस जन्मके बल्कि अनादिकालसे पूर्वजन्मोंके भी, यथा—पशुजीवनके संस्कार, देवयोनिके संस्कार, राजाके जीवनके संस्कार आदि। मनुष्यजन्ममें केवल उसी तरहके संस्कार क्रियाशील होते हैं, जो उस जन्मके उपयुक्त होते हैं। दूसरी तरहके संस्कार प्रच्छन्न और निष्क्रिय रहते हैं। संस्कारोंमें जो बात आ जाती है, वह आसानीसे नहीं छूटती।

संस्कार दो तरहके होते हैं—नैसर्गिक और निमित्तज। नैसर्गिक संस्कारोंपर वातावरणका प्रभाव कम होता है, इसीलिये प्रवचन सुनने या साहित्य पढ़नेपर भी जीवनक्रममें परिवर्तन नहीं आता, जबकि निमित्तज संस्कारमें सुनी या पढ़ी हुई बातका इतना प्रभाव होता है कि वह मनसे निकलती ही नहीं। अच्छे संस्कारोंका निर्माण करना और प्राप्त संस्कारोंको मज़बूत बनाना—ये दोनों क्रम बराबर चलते रहें तो मनोबलको बहुत बड़ा आलम्बन मिल जाता है। समाजमें दो तरहके व्यक्ति होते हैं, कुछ व्यक्ति इतने सशक्त होते हैं कि उनका मनोबल बढ़ता रहता है। उनके सामने यदि कोई छोटी-मोटी घटना घटित हो जाय तो उनपर कोई असर नहीं होता। वे बाधाओंको पारकर अपने लक्ष्य-प्राप्तिकी ओर बढ़ते हैं, जबकि कुछ लोग साधारण-सी घटनासे इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उनका मनोबल टूट जाता है। ऐसे लोगोंको लक्ष्यका निर्धारण कर ऊँचे संस्कारोंका विकास करना चाहिये। अपने जीवनको हीरे-तुल्य बनानेके लिये, कर्मोंको श्रेष्ठ बनानेके लिये अथवा इस जीवनमें योगका आनन्द लूटनेके लिये और बादमें भी मुक्ति तथा जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके लिये हमें अपने-आपमें अच्छे संस्कारोंका उद्भव करना

चाहिये। अपने जीवनको इस तरह नियमित बना लेना चाहिये कि रात्रिमें सोनेके बाद भी बुरे संस्कार तंग न करें।

संस्कारोंके द्वारा ही मन अपना आधिपत्य स्थापित करता है। संस्कारोंसे ही टिड्डीदलकी भाँति वासनाएँ प्रकट होती हैं, वासनाओंसे इच्छाओंका प्रवाह चलता है और इच्छित पदार्थोंके भोगसे तृष्णा बढ़ती है। यह तृष्णा बड़ी प्रबल होती है। मनमें भोगकी स्मृति उठती है, फिर मन पदार्थोंका चिन्तन करता है और उसके प्रति आसक्त हो जाता है। हम काम-वासनाओंसे विचलित हो जाते हैं। हम उन पदार्थोंको प्राप्त करने और भोगनेका शरीरसे प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्नमें राग और द्वेषके कारण हम किसीपर अनुराग करते हैं और किसीसे अरुचि रखते हैं। अतः हमें अपने पुण्य और पापका फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिये यह भी कहा जाता है कि पूर्व संस्कारोंसे प्रारब्ध बनता है। वास्तवमें संस्कार तो अपने माता-पिता और पूर्वजोंसे ही प्राप्त होता है। संस्कारके बिना मनुष्यमें विनीत भाव नहीं आता, नम्रता नहीं आती और न उसमें अपने-आपको सुधारनेकी क्षमता रह जाती है। मनुष्यको मनुष्य बनानेकी वास्तविक शक्ति अच्छे संस्कारोंमें ही निहित है।

अतः कोई भी काम करते समय अपने मनको उच्च भावोंसे और सुसंस्कारोंसे ओत-प्रोत रखना ही सांसारिक जीवनमें सफलताका मूलमन्त्र है।

~~~o~~~

कुछ लुप्तप्राय संस्कार

(शास्त्रोपासक आचार्य डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी मिश्र)

'संस्कार' शब्दका सामान्य अर्थ है परिष्कृत, शुद्ध या शोभित बनानेवाला कर्म। अपरिष्कृत या असंस्कृत वस्तुका ही संस्कार किया जाता है। भारतीय दृष्टिमें मनुष्य-जीवनको संस्कारोंसे सुसंस्कृत बनानेकी आवश्यकता है; ताकि वह अपने वास्तविक लक्ष्यको पानेकी योग्यता प्राप्त कर सके। वस्तुतः मनुष्य जन्मना अन्य प्राणियोंके समान ही अशुद्ध और असंस्कृत रहता है। संस्कारोंसे उसमें कुछ अतिशय गुणोंका समावेश हो जाता है तथा गर्भ एवं बीजसम्बन्धी दोष भी दूर हो जाते हैं। मनुस्मृतिमें संस्कारोंद्वारा शरीरकी शुद्धि बतायी गयी है। संस्कार व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वको प्रभावशाली एवं गुणमय बनाते हैं। आधुनिक शिक्षाविदोंका तथाकथित शिक्षाके माध्यमसे बालकके व्यक्तित्वका सर्वतोमुखी विकास करनेका दावा विफल होता दीखता है, जबकि संस्कारोंके अनुष्ठान वे धार्मिक अनुशासन (शिक्षाएँ) हैं, जिनसे व्यक्ति भारतीय संस्कृतिके मान्य मूल्यों और जीवनशैलीको अपनाता हुआ सहजमें ही विकास, उत्कर्ष और अभ्युदयको प्राप्त कर लेता है। संस्कारोंकी सानपर चढ़ा हुआ उनका जीवनरूपी पाषाण संस्कृत होता हुआ दिव्य रत्न हीरा बन जाता है। जीवनमें आद्यन्त संस्कारोंके क्रमिक अनुष्ठान तथा यथाविधि अनुपालनसे व्यक्ति न तो विपथगामी हो पाता है और न कभी उसकी कान्तिमें कोई मलिनता ही उत्पन्न होती है, वह दिव्य तेजसे समन्वित हो उठता है; क्योंकि संस्कार शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार उसका अर्थ ही है सजाना या अलङ्करण करना।

संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—मलापनयन, अतिशयाधान और न्यूनाङ्गपूरक। संसारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं—प्राकृत और संस्कृत। संस्कृत होनेपर उन पदार्थोंकी सत्ता और उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणस्वरूप प्रकृति भी जो हमें अनाज देती है, जिसके बलपर हमारा जीवन स्थित रहता है, उसे भी हम संस्कृत करके ही उपयोगमें ला पाते हैं। अनाजसे भूसीको अलग करके उसका मल दूर करते हैं। यह क्रिया 'मलापनयन' कहलाती है। फिर उसमें कुछ विशेषताएँ लानेके लिये उसे कूटते-पीसते हैं। जल या घीका मिश्रणकर उसे अग्निपर पकाते हैं। यह क्रिया 'अतिशयाधान' कहलाती है। फिर उस बने हुए भोजनमें दाल, शाक इत्यादि पदार्थ मिलाये जाते हैं, जिससे वह स्वादिष्ट और पौष्टिक बन सके। यह क्रिया 'न्यूनाङ्गपूर्ति' कहलाती है। इस प्रकार जब प्राकृतिक पदार्थतक बिना संस्कारके उपयोगी नहीं हो सकते तो फिर मनुष्यके संस्कारोंके महत्त्वके विषयमें जितना कहा जाय,
~~~

कम ही है।

महाराज मनु संस्कारोंसे व्यक्तिके शरीरकी शुद्धि मानते हैं। संस्कारप्रकाशमें गया है कि '**आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः**'। यहाँ शरीर शब्द व्यापक अर्थमें प्रयुक्त किया गया है।

सोलह संस्कारोंकी चर्चा तो है ही—अठारह, पच्चीस और चालीसतक संस्कारोंकी गणना शास्त्रोंमें की गयी है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, अक्षरारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि—ये सोलह प्रधान संस्कार हैं।

जन्मसे पूर्वके गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन-संस्कार गर्भशुद्धि और भावशुद्धिके संस्कार हैं। मन, बुद्धि, कर्म, भावना तथा ज्ञानके द्वारा ही व्यक्तित्वका निर्माण होता है। व्यक्तिकी उपयोगिता व्यष्टिसे ज्यादा समष्टिके लिये है। इसलिये जन्मसे पूर्वके संस्कारोंमें यह मूल तथ्य छिपा है कि उत्तम एवं सुलक्षण संतानके उत्पन्न होनेसे न स्वयं अपना बल्कि दूसरोंका भी हितसाधन होता है।

१. गर्भाधान-संस्कार—आज पाश्चात्त्य शैलीके अनुकरणसे हमारी संस्कृतिमें भारी बदलाव एवं गिरावट आ गयी है। फलतः संस्कारोंके अनुष्ठानकी प्रक्रिया लुप्त-सी हो रही है। सबसे प्रमुख है गर्भाधान-संस्कार। जो पूर्णतः लुप्त ही हो गया है। भारतीय पञ्चाङ्गमें छपे गर्भाधानके मुहूर्तको देखकर विदेशी तो हँसते ही हैं, तथाकथित शिक्षित भारतीय भी इसके तात्त्विक रहस्यको न समझकर इसे मूर्खता ही बताते हैं। भारतीय सनातन संस्कृतिमें संतानोत्पादनको एक पवित्र यज्ञ माना गया है। इस यज्ञके द्वारा संततिके सर्वतोमुखी विकासको संस्कारित किया जाता है। भारतीय वाङ्मयने गर्भाधानको एक अनुष्ठान माना है। यह न तो मात्र शारीरिक आवश्यकता है और न शारीरिक वृत्ति। मनुष्य इस धराधामपर श्रेष्ठतम प्राणी है। अतः उसे आहार, निद्रा, भय एवं मैथुनसे ऊपर होकर सोचना चाहिये। ऊर्ध्वगामी ज्ञान ही मनुष्यको पशुओंसे श्रेष्ठ बनाता है। उसी ज्ञानके आलोकमें कर्तव्यपथपर अग्रसर होनेके लिये देव, ऋषि, पितृ-ऋणोंकी चर्चा मिलती है। ज्ञानार्जन और ज्ञानदानसे ऋषि-ऋण, देवपूजन तथा भजनसे देव-ऋण और संतानोत्पादनके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होनेका उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है। इसीलिये उत्तम संतानकी प्राप्तिके लिये गर्भाधानादिकी विशेष प्रक्रिया शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। वैदेशिक विचारधारासे प्रभावित होकर अज्ञानवश स्वार्थपूर्ण वासनावृत्तिको गर्भाधानसे जोड़ना मूर्खता ही है। गर्भाधान भोगकी स्थिति नहीं, यह योगकी स्थिति है। अतः इस योगकी श्रेष्ठता योग्य संतानोत्पादनमें ही है।

परलोकप्राप्तिमें पुत्रको एक साधन माना गया है। स्त्री-पुरुषके मिलनको मात्र भोग न माननेसे ही आत्मसंयम और सदाचारका जन्म हो जाता है। गर्भाधानके मुख्य मन्त्रों*में देवोंको साक्षीकर कल्याणकारी भाव प्रकट हुए हैं। यथा—हे प्रिये! विष्णु तुम्हारे गर्भाशयको समर्थ बनायें, त्वष्टा तुम्हें शोभामय बनायें, प्रजापति बीजका वपन करें और धाता कर्मको ठीक तरहसे स्थापित करें। हे सिनीवाली देवि! एवं हे विस्तृत जघनोंवाली पृथुष्टुका देवि! आप इस स्त्रीको गर्भधारण करनेकी सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलोंकी मालासे सुशोभित दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भको पुष्ट करें।

तदनन्तर स्नानादिसे पवित्र होकर आचमन करके वधूके दक्षिण कन्धेके ऊपर हाथ ले जाकर हृदयका स्पर्श करके यह मन्त्र पढ़े—

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्॥ (पा०गृ०सू० १।११।९)

अर्थात् हे सौभाग्यशालिनि! तुम्हारा जो मन आकाशस्थ चन्द्रमामें स्थित है, वह मुझे जाने। हम दोनों सौ शरद् ऋतुओंतक जीवित रहें तथा सुनने आदिमें समर्थ बने रहें।

भारतीय वाङ्मयमें पुत्रोत्पादनके लिये एक मासके अनुष्ठानात्मक कर्मकाण्डकी चर्चा मिलती है, जिसमें पति-पत्नी यह निर्णय करते हैं कि मुझे कैसी संतान चाहिये। उसीके अनुसार दैवज्ञसे मुहूर्तका निर्णय कराते हैं तथा

---

* विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ (ऋक्० १०।१८४।१)
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।२१)

देवता और विधानका चुनाव करके एक पक्ष संयमपूर्वक रहकर देवपूजन, भजन, मनन, चिन्तनके साथ-साथ देवतासे सद्गुणसम्पन्न संततिके लिये प्रार्थना करते हैं। दूसरे पक्षमें मौन, व्रत, जप, यज्ञ तथा हवनके साथ-साथ पवित्र हविष्यान्न ग्रहण करके दम्पती अपने भीतर ओजका आधान करते हैं। पुनश्च रात्रिविशेषमें विशेष नियमद्वारा गर्भाधान सम्पन्न करते हैं। यह आध्यात्मिक उपचार ही संस्कार है। इन क्रियाओंके द्वारा मनुष्यकी आत्मा देवस्तरकी हो जाती है, किंतु आज हमारे असंयम तथा भोगवृत्तिने इस संस्कारको अव्यावहारिक बना दिया है।

२. पुंसवन-संस्कार—सवनका अर्थ है स्पन्दन। पुत्रोत्पत्तिकी कामनासे पुंसवन-संस्कार किया जाता है। गर्भमें संतानके थोड़े-थोड़े स्पन्दन (हिलने-डुलने)-से पूर्व यह संस्कार होता है। प्रायः गर्भसे द्वितीय या तृतीय मासमें यह होता है। पुंसवन-संस्कारमें शुभ मुहूर्तमें गर्भिणीकी दाहिनी नासिकामें वटवृक्षकी छालका रस डाला जाता है, तत्पश्चात् वाम नासिकामें डाला जाता है। सुश्रुतसंहितामें इस रसको तिल्लीकी वृद्धि और दाह रोकनेवाला बताया गया है। यह संस्कार शरीरके साथ-साथ गर्भशुद्धिके लिये भी श्रेष्ठ है। दुर्भाग्यवश इस संस्कारका भी लोप होता जा रहा है। साथ ही गर्भरक्षणके लिये किया जानेवाला अनवलोभन संस्कार भी लुप्त हो गया है, जो पुंसवन-संस्कारका अङ्गभूत ही है।

३. सीमन्तोन्नयन-संस्कार—सीमन्त कहते हैं स्त्रियोंकी माँगको, उसीका संस्कार सीमन्तोन्नयन-संस्कार कहलाता है। परम्परया यह गर्भका ही संस्कार है। सीमन्तोन्नयन-संस्कार पाँचवें या छठे मासमें किया जाता है। इससे बालकके शुद्ध मन और उत्तम बुद्धिका निर्माण शुरू होता है। उस समय गूलरवृक्षकी शाखा और जौके अंकुरसे गर्भिणीकी माँगका स्पर्श करके उन्हें गर्भिणीकी वेणीमें गूँथा जाता है। जौसे वीर्यशक्ति बढ़ती है और गूलरमें अद्भुत रोगनिवारक क्षमता है। वर्तमान-कालमें सीमन्तोन्नयन-संस्कारकी जानकारी भी बहुत कम लोगोंको है।

सुख-प्रसव तथा श्रेष्ठ संततिकी लालसासे इन तीनों संस्कारोंको करनेकी प्रथा रही है। भारतीय संस्कृतिके आर्षग्रन्थोंने अध्यात्मपरायणता एवं लोकमङ्गलको प्रमुखता दी है। इसलिये गृहस्थोंको पत्नीसहित यज्ञ करनेका विधान है। भारतीय विवाहपद्धतिमें वे सारी आध्यात्मिक विधियाँ करायी जाती हैं, जो संततिकी श्रेष्ठतामें सहायक बनती हैं। सत्कर्मोंसे लोकमें यश मिलता है और अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। इन सत्कर्मोंके प्रेरक हैं संस्कार। जीवनमूल्यों और आदर्शोंकी प्राप्तिके लिये संस्कार ही आधार-स्तम्भ हैं। सुनिबद्ध क्रममें किये गये संस्कारोंसे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है। संस्कार भारतीय जीवनपद्धतिके लिये मेरुदण्ड हैं। संस्कारोंका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बच्चोंपर पड़ता है—इस बातको बालमनोवैज्ञानिक अच्छी तरह जानते हैं। अतः हमें प्रयत्न करना चाहिये कि अपने लुप्त होते हुए संस्कारोंको पुनः जाग्रत् करें और अपनी भावी पीढ़ीको उन्नतिके उच्चतम शिखरपर पहुँचानेमें सहयोग करें।
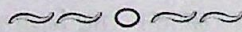
~~~o~~~

मुरली कृष्णकी प्रतिपल बजती

(डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम')

मुरली कृष्णकी प्रतिपल बजती।
हृदय शुद्ध जब मन हो निर्मल, आत्मा तब अक्षर-स्वर सुनती।
छद्म-प्रपंच-भरे जीवनमें, भाव-रहित परिजन-पुरजनमें।
ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ-कलहमें, अमल श्रवणकी शक्ति न जगती।
वृन्दावन अनुराग-भरा है, राधाजीका स्नेह सना है।
हृदय-हृदयका तार मिला है, धरा धन्य, यमुना लहराती।
इस वंशीकी तान निराली, नाचे मोर, रहे हरियाली।
झूमे कदम्ब, गौ करे जुगाली, शोभा-श्री सब लोक लजाती।

~~~o~~~

यज्ञोपवीत-रहस्य—निर्माण एवं धारण-विधि

[क्यों और कैसे अपनाये]

(पं० श्रीशिवदत्तजी वाजपेयी)

[विशेषाङ्क पृ०-सं० ३३४ से आगे]

उपनीतके लिये विशेष नियम

यज्ञोपवीत ब्रह्मसूत्र है, गायत्रीमन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित है। इसमें नौ देवताओंका आवास है, अतः इसकी प्रतिष्ठाको बनाये रखनेके लिये जरूरी है कि यह सदा पवित्र रहे, जिससे इसके धारणकर्ताका बल, आयु और तेज अक्षुण्ण बना रहे, इसके लिये उपवीतधारीको निम्नलिखित नियमोंका पालन करना अपरिहार्य है—

(१) शुद्ध तथा स्वनिर्मित यज्ञोपवीत धारण करनेका प्रयास करे—शास्त्रकारोंकी मान्यता है कि स्वनिर्मित यज्ञोपवीत मनुष्यमें स्वावलम्बनकी भावना पैदा करता है, सूत स्वयं कातनेसे उसकी अशुद्धिकी शङ्का नहीं रहती। यदि यह सम्भव न हो तो अपनी देख-रेखमें ब्राह्मणकन्या या सधवा ब्राह्मणीसे सूत कतवा सकते हैं।

(२) सदोपवीतिना भाव्यम्—यज्ञोपवीत ब्रह्मसूत्र है। अतः इसे ब्रह्मद्वारा दिया गया सूत्र मानकर सदैव धारण किये रहना दूसरा नियम है। यह संस्कारके दिनसे लेकर मृत्युपर्यन्त शरीरसे लगा रहना चाहिये। चितामें भी यह शरीरके साथ अग्निको अर्पित हो। इससे उपवीतीके हृदयमें सदा—'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' की भावना जाग्रत् रहेगी और देश, कालकी परिधिका भेदन कर शाश्वत ब्रह्ममें लीन होनेके लिये प्रेरणा प्राप्त होगी।

(३) ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके नियम तथा कर्तव्योंके प्रति सचेत रहे—संस्कारके साथ ही वटुक ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवेश करता है। यहाँ गुरुको ही सब कुछ मानकर अपने-आपको समर्पित करते हुए उनकी आज्ञा और निर्देशोंका पालन करते हुए शिक्षित और सदाचारी स्नातक बननेका सङ्कल्प ले। सात्त्विक जीवन, दुर्व्यसनोंसे दूरी, अष्टविध मैथुनका परित्याग, निन्दा, स्तुति एवं अनर्गल वार्तालापसे परहेज करे। ये ही गुण विकसित होकर कुशल गृहस्थके उत्तरदायित्वोंको पूरा करनेमें सहायक सिद्ध होंगे।

(४) शौचादिके समय कानपर यज्ञोपवीत अवश्य लपेटे—गृह्यसूत्रकारोंने उपवीतको शौच, लघुशङ्काके समय दाहिने कानमें लपेटनेका विधान किया है, यथा—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु रात्रौ च दक्षिणामुखः॥

यज्ञोपवीतको शौचादिके समय कानपर रखनेके कुछ अन्य प्रमाण हैं—

१-'**निवीती दक्षिणकर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा''''पुरीषे विसृजेत्**' (वैखानसधर्मप्रश्न २। ९। १ शौचविधि)।

२-'**यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा**' (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ४। ६। १)।

३-'''''**कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः। कुर्यान्मूत्रपुरीषे च**'''''
(याज्ञवल्क्य आचाराध्याय)

४-'**कर्णस्थब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषं विसृजति**' (आग्निवेश्य गृह्यसूत्र २। ६) इत्यादि।

मल-मूत्रका त्याग करते समय दाहिने कानमें सूत्र लपेटनेके रहस्यके पीछे अनेक कारण दिये गये हैं। सिर मानव-शरीरमें ज्ञानका केन्द्र होता है तथा दाहिने कानमें रुद्र, आदित्य, वसु आदि देवताओंका वास बताया गया है, अतः इस क्षेत्रको अपवित्रतासे मुक्त रखनेहेतु यज्ञोपवीतको कानपर रखनेका विधान किया गया है, यथा—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

अथवा

मरुत् सोम इन्द्राग्नि मित्रावरुणौ तथैव च।
एते सर्वे च विप्रस्य नित्यं तिष्ठन्ति दक्षिणे॥
(गोभिल)

शौचादिके समय यज्ञोपवीत-सूत्रको दाहिने कानपर रखनेके अन्य वचन इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥
(मनु० १। ९२)

पुरुष नाभिके ऊपर पवित्र है, नाभिके नीचेका भाग मलमूत्रधारक होनेसे विशेषतः शौचके समय अपवित्र होता है। इसीलिये उस समय पवित्र यज्ञोपवीतको वहाँ न रखकर ऊर्ध्वभाग कर्णप्रदेशमें रखा जाता है।

कुछ स्मृतिकारोंका मत है कि दाहिने कानमें दीक्षाके समय आचार्यद्वारा गुप्त मन्त्रोपदेश देनेसे वह सदैव पवित्र रहता है।

अन्य बात यह है कि हमारे शरीरमें पार्थिव इन्द्रिय नासिका, जलीय इन्द्रिय जिह्वा, तैजस इन्द्रिय नेत्र, वायव्य इन्द्रिय त्वचा तथा आकाशीय इन्द्रिय कर्ण है। देश-कालादिके अनुसार श्मशानादि रूपमें पृथिवी, मद्यादियोगसे जल, श्मशानाग्निरूपमें तेज, पुरीषालयादि रूपमें वायु—ये चार भूत अशुद्ध हो जाते हैं, किंतु आकाश किसी भी रूपमें अशुद्ध नहीं होता। हमारे शरीरमें उसकी प्रतिनिधिरूप इन्द्रिय कान है। इसी कारण मल-मूत्रादिके त्यागके समय यज्ञोपवीतका सम्बन्ध कानसे कर देनेसे वह अशुद्ध नहीं होता।

शरीरविज्ञानके अनुसार यदि मानव-शरीरका अवलोकन करे तो मध्यमें वीर्यकोष है। यहाँसे निकलनेवाली रक्तवाहिनी दाहिने कानसे होते हुए शरीरके मल-मूत्रद्वारतक जाती है। प्रायः लघुशङ्का या शौचके समय जोर लगानेसे वीर्य अज्ञात रूपसे स्खलित होने लगता है। यदि इसपर ध्यान न रखा जाय तो यह शरीरको भयङ्कर रोगोंसे ग्रस्त कर सकता है। अतः महर्षियोंने इस प्रवाहको रोकनेके लिये जहाँ एक ओर कर्णच्छेदनकी रीति प्रचलित की, वहीं यज्ञोपवीतद्वारा इस नाडीको बाँधकर वीर्यरक्षा करनेका प्राविधान भी किया और उन्होंने इस नियमको बनाया। यह रक्तचापपर नियन्त्रण रखता है और हृदयको मज़बूत बनाता है।

यज्ञोपवीतकी व्यापकता एवं महत्ता

सनातनकालसे चला आ रहा यह संस्कार हिन्दूधर्मका मुख्य प्रतीक रहा है। इसमें समाहित ब्रह्मका स्वरूप तथा गायत्रीसहित अनेक देवताओंका समावेश जहाँ इसे धार्मिक दृष्टिसे परम पवित्र बनाता है, वहीं इसकी निर्माण-विधि और इसमें समाहित आदर्श, सत्कर्म, उत्तरदायित्व, कर्तव्यभारके प्रति समर्पित भावनाने हिन्दू-समाजको ही प्रभावित नहीं किया, अपितु अनेक धर्म और सम्प्रदायोंने भी इसके प्रति आकर्षित होकर अपने रीति-रिवाजोंमें अपने धर्मके अनुरूप धार्मिक चिह्नके रूपमें स्थान देकर इसे व्यापकता प्रदान की, साथ ही इसका महत्त्व भी बढ़ाया। उदाहरणार्थ—

मुस्लिम-समाज—मुस्लिम-समाजमें मौलवी अपने द्वारा बनाये गये सूतके गण्डेको मुसलमानके गलेमें पहनाकर आयु, बल और तेजकी सिद्धि प्राप्त करनेकी कामना करते हैं, यह यज्ञोपवीतकी भाँति कण्ठीकृत कर सदा धारण किया जाता है।

ईसाई-समाज—ईसाई-समाजके पुजारी, जिन्हें पादरी कहा जाता है, यज्ञोपवीतके समान ऊनका बना हुआ और उमेठा गया सूत्र, जिसके मूलमें तीन ग्रन्थियाँ लगी होती हैं, कमरमें सदा बाँधे रहते हैं। यह कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट समाजमें धार्मिक अनुष्ठानके लिये आवश्यक माना जाता है।

पारसी-समाज—पारसी-समाजमें पुरुष नीचे दिये गये मन्त्रका पाठ करके अभिमन्त्रित किये गये एक बटे हुए मोटे डोरेको कमरमें पहनना अपने धर्मका विशेष नियम मानते हैं—

फ्राते मजदा ओवरत् पौखनिम आयम्य ओं धनेम।
स्तेहर पाए संधेम् मैन्यु तस्तेमु बंधुहिम दा एनम भज दयास्निम॥

अर्थात् मजदा या सनिन धर्मके चिह्न, हे तारिका-मण्डित कुश्ता! तुझे पुराने कालमें मजदाने धारण किया था।

इसी तरह सिक्ख और बौद्धधर्ममें भी उनके प्रवर्तकोंको यज्ञोपवीत धारण किया हुआ दिखाया गया है। सिक्खधर्ममें गुरुनानकसे लेकर गुरुगोविन्दसिंहतकके सभी गुरु शास्त्रीय विधिसे यज्ञोपवीत धारण करते रहे हैं। उदाहरणस्वरूप—

गुरुनानक—

असविध श्रीनानक गतिदानी। उपदेशन की उचरत बानी॥
बरन बदन विप्रन बरिआई। यज्ञोपवीत दियो पहराई॥
(ना०प्र० ४२)

गुरुगोविन्दसिंह—

पीत पुनीत उपरना धोती जोती रवि नव छाजै।
पीत जनेऊ मनो वदन शशि पै विजरी विजुरी भ्राजै॥

बोधगयाके प्रसिद्ध मन्दिरमें सुप्रतिष्ठित बुद्धप्रतिमामें

दिखलाये गये उत्तरीय वस्त्रके अंदरसे झलकते हुए यज्ञोपवीतके दर्शन किये जा सकते हैं। बौद्ध लामा भी कमरमें अनिवार्यरूपसे ऊनसे तैयार की गयी मोटी रज्जु धारण किये रहते हैं। अस्तु,

भारतीय संस्कृतिमें यज्ञोपवीत उपनयन, मौञ्जीबन्धन, जनेऊ आदि नामोंसे विख्यात ऐसा पुनीत और मौलिक संस्कार है, जिसका सम्बन्ध हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जीवनकी निकटतासे है। यह मनुष्यत्वसे देवत्व प्राप्त करनेहेतु सशक्त साधन है। यह मनुष्यको सत्कर्मपर चलकर आदर्श गृहस्थ और श्रेष्ठ नागरिक बनाने, उसमें स्वदेश-प्रेम, कर्मके प्रति आस्था, धर्मके प्रति श्रद्धा और अपने आचार-व्यवहारमें मृदुता, सहनशीलता, उदारता, समानता, दायित्वों और कर्तव्योंके प्रति सजग रहनेका सङ्केत देते हुए अपने पूर्वज पितृदेव एवं गुरुजनोंके साथ-साथ अपने जनक माता-पिताके प्रति श्रद्धाके साथ सदा उन्हें स्मरण करते रहनेकी सीख देता है।

यज्ञोपवीतका हमारे स्वास्थ्यसे भी गहरा सम्बन्ध है। यह हमें शुचिता-पवित्रताका पाठ पढ़ाता है। यह मल-मूत्र त्यागके पूर्व दाहिने कानको बाँधकर आँतोंकी अपकर्षण-शक्तिको बढ़ाता है, जिससे कब्ज दूर होता है, मूत्राशयकी मांसपेशियोंका संकोचन वेगसे होने लगता है। इसके परीक्षण विदेशोंमें होते रहे हैं और यज्ञोपवीतको कानमें लपेटनेसे वीर्यक्षरण और रक्तचापमें नियन्त्रणसे होनेवाले लाभको वहाँ स्वीकारा गया है। योगशास्त्रमें स्मरणशक्ति तथा नेत्रज्योति बढ़ानेके लिये 'कर्णपीडासन' योगका महत्त्व बताया गया है। इटलीके प्रसिद्ध न्यूरो सर्जन प्रो० ऐनारीका पिरांजलीने यह सिद्ध करके बताया है कि कानमें जनेऊ लपेटनेसे रक्तचाप नियन्त्रित होता है और हृदय मज़बूत होता है।

खेद है कि आजका पाश्चात्त्य सभ्यतामें पला-बढ़ा तथाकथित सभ्य समाज इसे दकियानूसी एवं पाखण्ड मानते हुए अस्वीकार कर रहा है।

आजके मनुष्यके आचार-व्यवहार घूम-फिरकर 'स्व' पर आकर टिक गये हैं। मर्यादाएँ टूट रही हैं, परिवार बिखर रहे हैं, श्रद्धा डगमगा रही है, आस्था चूर-चूर हो रही है—ऐसी स्थितिमें मानवमें समायी इन विच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंको शृङ्खलाबद्ध करने एवं वैदिक संस्कृतिको अपने पुराने स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिये आस्था और श्रद्धाको लौटाना होगा, तभी भ्रान्तियोंका निराकरण हो सकेगा और हिन्दूधर्मके सुसंस्कृत सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठा पुनः बढ़ सकेगी। [समाप्त]

~~~o~~~

यज्ञोपवीतके नौ धागे

(सुश्री मधुजी शर्मा)

यज्ञोपवीत नौ गुणोंका प्रतीक है। इसके त्रिसूत्र दर्शाते हैं कि जन्मतः मनुष्य तीन ऋणोंसे ग्रस्त हो जाता है। पहला पितृ-ऋण, दूसरा देव-ऋण और तीसरा ऋषि-ऋण। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र उपर्युक्त ऋणोंसे मुक्त होनेकी प्रेरणा देते रहते हैं। उन तीन ऋणोंसे उद्धारार्थ देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि पाँच महायज्ञोंका विधान हमारे शास्त्रोंमें किया गया है। इन यज्ञोंके सम्पादनके लिये यज्ञोपवीती होना आवश्यक है।

मनुष्य-शरीरमें हृदय वामभागमें स्थित है। अतः यज्ञोपवीत बाँयें कन्धेसे दाहिनी ओर धारण किया जाता है। जब यज्ञोपवीत-संस्कार होता है, तब ब्रह्मचारी यह समझने लगता है कि अब मेरे ऊपर उपर्युक्त ऋणोंको चुकानेका उत्तरदायित्व आ गया है। वह आत्मपवित्रताका अनुभव करने लगता है। जिन उच्च भावनाओंके साथ वेदमन्त्रोंके माध्यमसे अग्नि और देवताओंके साक्ष्यमें यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, उससे मनुष्यके सुप्त मानसपर एक विशेष छाप पड़ती है। यह सूत्र यज्ञमय एवं अत्यन्त पवित्र है। अतः यज्ञोपवीतीको यह समझना चाहिये कि इसके धारण करनेसे मेरा शरीर पवित्र हो गया, मेरा मन पवित्र हो गया। उसे यह भी समझना चाहिये कि शारीरिक एवं मानसिक मलोंसे इस दैवी पवित्रककी रक्षा की जानी चाहिये।

जनेऊ पहनना या उसे कन्धेपर धारण करनेका अर्थ जीवनचर्याको तथा कायकलेवरको देवालय बना लेना भी है।
~~~

यज्ञोपवीतमें नौ धागोंका प्रावधान इसलिये है कि मनुष्य नौ सद्गुणोंको बनाये रखनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे। यज्ञोपवीतके नौ धागे नौ मानवीय विशेषताओंको उजागर करनेवाले सद्गुणोंके प्रतीक हैं। ये मानवको अनेक विभूतियोंसे सुसम्पन्न बनाते हैं। इसी प्रक्रियाको द्विजत्वकी अवधारणा भी कहते हैं।

यज्ञोपवीतके नौ धागों (तन्तुओं)-में ओङ्कार आदि नौ देवता तो प्रतिष्ठित रहते ही हैं, इसके साथ ही कुछ अन्य दृष्टियोंसे भी इसपर विवेचन किया जा सकता है, यथा—सौरमण्डलमें नौ ग्रह हैं, रत्नोंकी संख्या भी नौ मानी गयी है, अङ्कोंकी संख्या भी नौपर समाप्त होती है। मानव-शरीरमें नौ द्वार हैं। इसी प्रकार मन्त्रदीक्षाके समय—उपनयन-संस्कारके समय वटुको यज्ञोपवीतके नौ धागोंको धारण कराया जाता है अर्थात् मानवीय गरिमाके साथ अविच्छिन्नरूपसे जुड़े हुए नौ अनुशासन—उत्तरदायित्वोंको कन्धेपर धारण कराना ही यज्ञोपवीतका मर्म है। इसके प्रत्येक धागेमें जीवनको महान् बनानेवाली तथा परलोकको सुधारनेवाली अनेक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. **श्रमशीलता**—समय, श्रम और मन्त्र-योगको किसी उपयुक्त प्रयोजनमें निरन्तर लगाये रहना अर्थात् अपने अधिकारानुसार सदा कर्तव्यका अवबोध और कर्म-सम्पादन—यह यज्ञोपवीत-धारणका पहला अनुशासन है।

२. **शिष्टता**—शालीनता, सज्जनता तथा सदाचारका पालन करना। अपनी नम्रता और दूसरोंकी प्रतिष्ठाका परिचय देना। दूसरोंसे वही व्यवहार करना जो उनसे अपने लिये अपेक्षित हो। मर्यादाओंका पालन करना। वर्जनाओंसे बचावका सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना—यह दूसरी मर्यादा है।

३. **मितव्ययिता**—सादा जीवन-उच्च विचारकी अवधारणा। साधनोंको सीमित रखना तथा परिग्रह न करना—यह तीसरा अनुशासन है।

४. **सुव्यवस्था**—हर वस्तुको सुव्यवस्थित रखना, सुसज्जित स्थितिमें रखना। समयका निर्धारण करते हुए नियमित दिनचर्या बनाना एवं उसका अनुशासनपूर्वक पालन करना—यह चौथी शिक्षा है।

५. **उदार सहकारिता**—मिल-जुलकर काम करनेमें रुचि, पारस्परिक आदान-प्रदान, स्वार्थका परित्याग कर परहितचिन्तनका अनुष्ठान—यह पाँचवाँ अनुशासन है।

६. **समझदारी**—दूरदर्शी तथा नीर-क्षीरविवेक-सम्पन्न होकर औचित्यका चयन करना और परिणामोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए कार्य करना—यह यज्ञोपवीतकी छठी शिक्षा है।

७. **ईमानदारी**—आर्थिक और व्यावहारिक क्षेत्रमें सहजता एवं सत्यताका व्यवहार, छल-प्रवञ्चना तथा अनैतिक आचरणसे दृढ़तापूर्वक बचना—यह यज्ञोपवीतकी सातवीं मर्यादा है।

८. **सावधानी**—मनुष्यने अपनेको इतने बन्धनोंसे बाँध रखा है कि स्खलन होना सम्भव है। अतः बहुत सावधान और सचेत रहते हुए यह ध्यानमें रखना कि अपनेमें अनाचारका प्रवेश न होने पाये—यह आठवीं शिक्षा है।

९. **साहस**—शौर्य और पराक्रमकी अवधारणा, अनीतिके सामने सिर न झुकाना, संकट देखकर व्याकुल न होना, अपने कर्मका दृढ़तापूर्वक पालन, लोभ-मोह-अहङ्कार-कुसङ्ग-दुर्व्यसन आदि सभी दुष्प्रवृत्तियोंसे संघर्षका साहस और आत्मोद्धारके लिये प्रयत्नशीलता—यह यज्ञोपवीतके नौवें धागेकी नौवीं शिक्षा है।

उपर्युक्त नौ क्रियापरक तथा भावनापरक गुणोंके समुच्चयको धर्मधारण कहा जा सकता है। यज्ञोपवीतके रूपमें इन्हें कन्धेपर धारण कराया जाता है। मानवीय गरिमाके साथ अविच्छिन्नरूपसे जुड़े हुए और अनुशासनभरे नौ उत्तरदायित्वोंको कन्धेपर धारण करना ही वस्तुतः यज्ञोपवीतके नौ धागोंके धारणका रहस्य है।

जो इन नौ गुणोंको यथार्थरूपमें धारण करता है, उसीके लिये यह सम्भव है कि यदि वह श्रद्धापूर्वक सच्चे मनसे प्रयत्न करे तो जीवनमें आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है। यज्ञोपवीतके नौ धागे ज्ञान और कर्मके समुच्चय हैं।

यज्ञोपवीत आध्यात्मिक अनुशासन सिखानेवाला गायत्री मन्त्रका प्रतीक है। इसे धारण करनेका तात्पर्य है कि गायत्री-मन्त्रमें संनिहित सदाशयताको स्वीकार करना और उसे अपनानेकी तत्परताका परिचय देना।

गायत्री और उपवीतका सम्मिलितरूप ही द्विजत्व है। उपवीत सूत्र है तो गायत्री उसकी व्याख्या। दोनोंकी आत्मा एक-दूसरेके साथ जुड़ी हुई है। उपवीत ऋषियोंका ऋण है। यह मनुष्यके आदर्श-जीवनकी आकांक्षाका प्रतीक है। आप भी अपने अधिकारानुसार भारतीय संस्कृतिके इस प्रतीकको धारण कीजिये, प्रभु आपकी सहायता करेंगे।

~~~o~~~
~~~

मिथिलाका सांस्कृतिक उपनयन-संस्कार

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

दार्शनिक एवं सांस्कृतिक भूमि 'मिथिला' प्राचीन कालसे बौद्धिक जगत्में सुविख्यात रही है। महाशक्तिस्वरूपा जगज्जननी जानकीके इसी धराधामपर अवतरित होनेसे यह धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें और भी चर्चित हुई है। योगिराज जनककी राजसभामें ब्रह्मविद्याका समीक्षात्मक चिन्तन अखिल भारतीय स्तरपर यहीं हुआ था। महर्षि याज्ञवल्क्य एवं गौतमकी तप:स्थली एवं कर्मस्थली यही मिथिला थी। प्राच्यविद्याओंका विशेषत: वेद-वेदाङ्ग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय और सांख्ययोगका तो यह प्रमुख केन्द्र ही रही। सांख्ययोगके प्रवर्तक सिद्ध महामुनि कपिल यहीं हुए थे। शाक्त, शैव और वैष्णव—त्रिविध संस्कृतियोंका यहाँ अपूर्व संगम था और आज भी है। यहाँतक कि यहाँका व्यवहारपक्ष ही धर्मका निर्णायक माना जाता रहा—**'धर्मस्य निर्णयो ज्ञेयो मिथिलाव्यवहारत:'** किंतु कराल कालके कुप्रभावसे अब यह संस्कृति लुप्त होती जा रही है। अब जो कुछ बचा है, उसे हम केवल स्मरणमात्र कर रहे हैं। संस्कारपद्धतियोंको जीवित रख रहे हैं। अत: यदि देखा जाय तो संस्कार ही मूलभूत संस्कृति है। इस परिवर्तनशील संसारमें संस्कृतियोंका भी परिवर्तन होता रहा है। वैदेशिक शासकोंके आधिपत्यके कारण हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृतिपर भी आघात पहुँचा, इसके साथ ही पाश्चात्त्य या अन्य संस्कृतियोंसे यह संस्कृति भी प्रभावित हुई और हमारा रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, व्यवहार—सब कुछ बदलता गया है और रह गयी मात्र स्मृति। इसकी सुरक्षा हम भारतीयोंके लिये परम अपेक्षित है।

जबतक यह धर्मप्राण देश संस्कारोंकी क्रियाका विधिवत् अनुष्ठान करता रहा, तबतक समस्त भूमण्डल क्या; देवलोकपर भी शासनकर सम्मानित होता रहा और जैसे-जैसे संस्कारोंका लोप हुआ तथा आलस्यकी वृद्धि हुई, उसी दिनसे अध:पतन प्रारम्भ हो गया। भगवान् मनुने ठीक ही कहा है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

अर्थात् वेदोंका अभ्यास निरन्तर नहीं करनेसे, सदाचारको त्याग देनेसे, आलस्य एवं अन्नदोष (गर्हित अन्न ग्रहण करने)-से मृत्यु विप्रोंको मारनेकी इच्छा करती है।

उपनयन (उप+नी+ल्युट्)-संस्कारका शास्त्रीय एवं व्यावहारिक स्वरूप—उपनयन-संस्कारके अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, वे हैं—उपनायन, उपनयन, यज्ञोपवीत, व्रतबन्ध, व्रतादेश, जनेऊ आदि। निष्कर्ष यह है कि वेदाध्ययनकी दीक्षा देना, जैसा कि कहा गया है—

गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरो:।
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयं विदु:॥

प्राचीन वैदिक कालसे ही मिथिला उपनयन-संस्कार एवं अन्त्येष्टि-संस्कारके पश्चात् होनेवाली श्राद्धक्रियाके लिये विख्यात है। इन दोनोंका सम्पादन करनेमें कर्मकाण्डीय पद्धतियोंके अतिरिक्त व्यावहारिक पक्ष भी गृहीत होते हैं। वस्तुत: व्यवहार भी शास्त्रमूलक ही होते हैं। इन दोनों संस्कारोंकी क्रिया सम्पन्न करनेमें पूरी शक्ति लगा दी जाती है। समय-सीमा भी अधिक होती है। उपनयन-संस्कारको ही लें। इसकी पूरी प्रक्रियाको सम्पादित करनेमें लगभग डेढ़ महीनेका समय लग जाता है। सर्वप्रथम उपनीयमान माणवक (वटु)-की जन्मकुण्डलीके आधारपर गुरुशुद्धिका विचार किया जाता है। गुरुशुद्धि सोदर तथा अन्य वटुओंके आधारपर भी मान ली जाती है। गुरुशुद्धिके विषयमें ज्योतिषशास्त्रमें इस प्रकारकी व्यवस्था है—

बटुकन्याजन्मराशेस्त्रिकोणायद्विसप्तग: ।
श्रेष्ठो गुरु: खषट्त्र्याद्ये पूजयाऽन्यत्र निन्दित:॥

(मुहूर्तचिन्तामणि ५।४६)

अर्थात् यदि वटुकी जन्मकुण्डलीमें २, ५, ७, ९, ११—इन स्थानोंमें गुरु अवस्थित है तो शुभ है। यदि १, ३, ६ और १०वें स्थानोंमें गुरु है तो पूजाके द्वारा शुभ

है। ४, ८, १२में स्थित गुरु निन्दित होता है, किंतु इसका विकल्प भी ज्योतिषशास्त्रमें उपलब्ध है, वह यों है—

स्वोच्चे स्वभे स्वमैत्रे वा स्वांशे वर्गोत्तमे गुरुः।
रिःफाष्टतुर्यगोऽपीष्टो नीचारिस्थः शुभोऽप्यसत्॥

(मु०चि० ५।४७)

इसका आशय यह है कि कर्क, धनु, मीन, सिंह, मेष और वृश्चिकमें अन्यतम राशिमें अथवा धनु, मीन राशिके नवांशमें चरादिम लवमें, स्थिर राशि पञ्चम लवमें द्विस्वभाव राशिके नवम लवमें स्थित गुरु ४, ८, १२—इन निन्दित स्थानोंमें अन्यतम (एक) स्थित रहनेपर भी शुभकारक होता है तथा मकर, मिथुन, कन्या वृष, तुला राशियोंमें अन्यतम (एक) राशिस्थित गुरु २, ५, ७, ९ और ११—इनमें चन्द्रसे विद्यमान होनेपर भी शुभकारक नहीं होता है।

किसी वटुकी गुरुशुद्धि न होनेपर वैकल्पिक व्यवस्था—

गोचराष्टकवर्गाभ्यां यदि शुद्धिर्न जायते।
तस्योपनयनं कुर्वीत चैत्रे मीनगते रवौ॥

(ज्योतिषचन्द्रिका)

अर्थात् गोचराष्टक वर्गोंसे यदि किसी वटुकी गुरुशुद्धि नहीं बनती है तो उस वटुका सूर्यके मीनराशिगत होनेपर चैत्रमें उपनयन-संस्कार करना चाहिये।

इतना ही नहीं, गुरुशुद्धिकी अति आवश्यकताको प्रकट करते हुए पौलस्त्यजी कहते हैं—

यदा गर्भाष्टमे वर्षे शुद्धिर्नास्ति बृहस्पतेः।
अष्टमे वा तथाऽप्येवं व्रतं तत्र न कारयेत्॥

अर्थात् जब गर्भाष्टम या अष्टम (आठवें) वर्षमें गुरुशुद्धि नहीं बनती हो तो ऐसी स्थितिमें वटुका उपनयन-संस्कार नहीं करना चाहिये।

उपनयन-संस्कारका समय—सामान्यतया मन्वादि ऋषियोंने वटुके उपनयनका समय—ब्राह्मणोंके लिये गर्भसे आठवाँ वर्ष, क्षत्रियोंके लिये ग्यारहवाँ वर्ष तथा वैश्योंके लिये बारहवाँ वर्ष निर्धारित किया है। जैसा कि मनुस्मृति (२।३६)-में कहा गया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

अपवादस्वरूप यदि किसी वटुके पिताकी यह इच्छा हो कि बालक ब्रह्मवर्चस्वी हो, बलशाली हो, कृषि आदिसे विशेष मण्डित हो तो क्रमशः पाँचवें, छठे और आठवें वर्षमें उपनयन-संस्कार कर देना चाहिये। जैसा कि मनुने कहा है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २।३७)

इस प्रकार उपर्युक्त काल उपनयनके लिये मुख्य काल माना गया है। विशेष परिस्थितियोंमें क्रमशः १६, २२ और २४वाँ वर्ष गौण काल होता है। इसके पश्चात् तो वटु 'व्रात्य' हो जाता है और व्रात्य हो जानेपर प्रायश्चित्त-विधान करके ही उपनीत हो सकता है। इस सम्बन्धमें व्यासजीने कहा है—

औपनायनिकः कालः परः षोडशवार्षिकः।
द्वाविंशतिपरो ह्यस्य स्याच्चतुर्विंशतिः परः॥

उपनयन-संस्कारका विहित समय—द्वैतनिर्णयके अनुसार—दक्षिणायनमें सौर श्रावणसे सौर पौषतक उपनयन करना निषिद्ध है। उत्तरायणमें—मकरसंक्रान्तिसे कर्कसंक्रान्ति-पर्यन्त कालमें कृष्णपक्षीय तिथियाँ निषिद्ध हैं। स्वाध्यायमें भी चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, नवमी और त्रयोदशी तिथियाँ स्वतः निषिद्ध हैं। इनमें शेष तिथियाँ ग्राह्य हैं।

किस महीनेमें उपनयन-संस्कार करनेसे क्या फल होता है—आचार्य वाचस्पति मिश्रने उपनयन-संस्कार किस मासमें करनेसे क्या फल होता है, इस विषयमें कहा है—

माघे द्रविणशालाढ्यः फाल्गुने च दृढव्रतः।
चैत्रे भवति मेधावी वैशाखे कोविदो भवेत्॥
ज्येष्ठे गहननीतिज्ञ आषाढे क्रतुभाजनः।
शेषेष्वन्यत्र रात्रिः स्यान्निषिद्धं च निशिव्रतम्॥

अर्थात् सौर माघमें उपनयन करनेसे उपनीत वटु धनवान्, फाल्गुनमें दृढव्रती, चैत्रमें मेधावी, वैशाखमें

कवि-विद्वान्, ज्येष्ठमें नीति-कुशल (राजनीतिज्ञ) और आषाढमें विविध यज्ञकर्ता होता है। शेष मास रात्रिके समान हैं, जो व्रतबन्धमें वर्जित हैं।

स्त्रियोंका विवाह-संस्कार ही उपनयन-संस्कार है—इस विषयमें स्मृतिकार मनु कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

इसका आशय है कि विवाह-सम्बन्धी विधि ही स्त्रियोंका उपनयन-संस्कार है। पतिकी सेवा करना ही परम धर्म है, पति ही स्त्रियोंका गुरु है '**पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्**।' घरमें पाकादि क्रिया सम्पन्न करना ही अग्निहोत्र है।

उपनयन-संस्कारका उपक्रम—उपनीयमान वटुकी ज्योतिषगणनाके पश्चात् गुरुशुद्धि निश्चित हो जानेपर उपनयनका उपक्रम प्रारम्भ हो जाता है, जिसे 'उद्योग' कहा जाता है। निश्चित तिथिपर वटुओंको माङ्गलिक चन्दनादिसे अलंकृत कर घरकी तथा आस-पासकी महिलाएँ गीत-नाद करती हुई बाँस (वंश)-के समीप ले जाती हैं और किन्हीं (कम-से-कम) पाँच बाँसोंमें चावलके पिसे हुए पिठार एवं सिन्दूर लगवाकर वटुसे चिह्नित कराती हैं। इसके पश्चात् मण्डप-निर्माणका कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

मण्डपका निर्माण शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विधि-विधानसे भव्य एवं आकर्षकरूपसे किया जाता है। इसके पश्चात् उपनयन तिथिके पूर्व पड़नेवाले मङ्गलवारको अथवा किसी अन्य दिनमें वटु समेत महिलाएँ किसी सरोवरके निकट जाती हैं और वहाँसे शुद्ध मृत्तिका लाकर मण्डपको परिष्कृत करती हैं, विविध प्रकारसे उसे सजाया जाता है। इसके पश्चात् उपनयन-संस्कार-पद्धतिसे कार्य प्रारम्भ होता है। मिथिलामें मुख्यतः दो प्रकारकी उपनयन-पद्धतियाँ चलती हैं—(१) महामत्तक ठक्कुर श्रीमद्वीरेश्वर-विरचित छन्दोग-उपनयन-पद्धति तथा (२) महामत्तक ठक्कुर श्रीरामदत्तविरचित वाजसनेयी-उपनयन-पद्धति। इन दोनों पद्धतियोंमें सामान्य अन्तर है। सामवेदियोंकी छन्दोगपद्धति है और यजुर्वेदियोंकी वाजसनेयी। तदनुसार उपनयन-संस्कारकी तिथिकी पूर्वरात्रिमें 'जूटिका-बन्धन' (कुमरम—कुमाररमण)-का आयोजन किया जाता है। इसमें पद्धतिसे बहिर्भूत होनेपर भी आचारप्राप्त स्वस्तिवाचनादिके पश्चात् यथासम्भव माणवकके पिता, पितामह, पितृव्य, सोदर ज्येष्ठ भ्राता अथवा कुलश्रेष्ठ व्यक्ति आचार्यत्व करते हुए '**सहस्रशीर्षा०**' इत्यादि १६ ऋचाओंका पाठ करते हैं। तत्पश्चात् तीन स्थानोंपर सफेद शल्लकी (साही)-के कण्टकसे आचार्य वटुकी शिखाको तीन भागोंमें कर '**सहस्रशीर्षा०**' वैदिक मन्त्र पढ़ते हुए 'जूटिका-बन्धन' करता है। तदनन्तर माणवकके स्कन्ध (कन्धा)-देश (स्थान)-से यज्ञोपवीत आकारसे चन्दनका लेप किया जाता है। उस समय आचार्यद्वारा निम्नलिखित मन्त्र पढ़ा जाता है—

आमन्त्रये त्वां जूटिके कुमारशिरसंस्थिते।
प्रभाते छेदनार्थाय कुमारस्य शुभाय च॥
'ॐ स्वस्ते यज्ञोपवीते दास्यामि। ॐ स्वस्ते वपामि'।

आचार्य और ब्रह्माका वरण—जिस प्रकार किसी भी यज्ञमें आचार्य और ब्रह्माका होना परमावश्यक होता है, उसी प्रकार यज्ञोपवीत (उपनयन)-संस्कारमें इनका योगदान प्रमुखरूपसे चर्चित है। आचार्यको आचारवान् तो होना ही चाहिये, साथ ही यथासम्भव वेद-वेदाङ्गका ज्ञाता, सदाचारी, दयालु, क्रोधशून्य, निर्लोभी और ईर्ष्यारहित होना चाहिये। ब्रह्मामें भी उपर्युक्त लक्षण होने आवश्यक हैं। प्रथमतः आचार्य पिताको ही होना चाहिये। ('**पितैवोपनयेत् पुत्रम्**') विकल्पमें पितामह, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता और ज्येष्ठजन भी हो सकते हैं। ब्रह्माके लिये प्रथमतः जामाता (जमाय)-का वरण व्यवहाररूपसे होता है अथवा उपर्युक्त गुणोंसे युक्त किसी अन्य व्यक्तिका। यदि उपर्युक्त सत्पात्र नहीं मिलें तो अभावमें कुशोंका ही ब्रह्मा कल्पित कर लिया जाता है।

मेखला (मौञ्जी, कटिसूत्र, करधनी)-विचार—उपनयन-संस्कारमें मेखलाका धारण परम आवश्यक होता है। मूँजकी बनी हुई मेखला ब्राह्मण, धनुषकी प्रत्यञ्चा (चर्ममय डोरी)-की बनी मेखला क्षत्रिय तथा सन (शण)-की बनी मेखला वैश्यके लिये विशेष विहित है। मूँजके

अभावमें कुश, काश अथवा साबे (एक प्रकारकी खड़ी घास)-की मेखला बनानी चाहिये तथा एक, तीन, पाँच प्रवर-संख्याके अनुसार उसमें गाँठ देनी चाहिये। मेखलाको कटिप्रदेशमें ही धारण करना चाहिये, यज्ञोपवीतके समान ग्रीवा (गर्दन)-में नहीं। यह शास्त्रमर्यादाके विरुद्ध और असङ्गत है।

उपनीत वटुका दण्डग्रहण-विचार—उपनीत ब्रह्मचारीके लिये दण्डग्रहण आवश्यक है। पारस्करगृह्यसूत्रके अनुसार पालाश-दण्ड ब्राह्मण, बैल्व (बेलका)-दण्ड क्षत्रिय तथा औदुम्बर (गूलर)-दण्ड वैश्यके लिये विशेषरूपसे उल्लिखित हैं, अभावमें ये सभी दण्ड सबके लिये मान्य हैं। दण्डप्रमाण यथाक्रम केशान्त, ललाट तथा नासिकापर्यन्तका होना चाहिये, किंतु कहीं-कहीं इसे कर्णसमीपस्थ या केशपर्यन्त भी ग्रहण किया जाता है।

उपनयन-पद्धतियोंका विभाजन—मिथिलामें उपनयन-संस्कारके लिये प्रचलित पद्धतियोंमें तथा व्यवहारोंमें सामान्य अन्तर है। छन्दोगमें चूडाकरण, उपनयन और समावर्तनका ही उल्लेख है, जबकि वाजसनेयीमें उपनयनके पश्चात् वेदारम्भ शीर्षक भी दिया गया है। दोनोंमें क्रियात्मक मन्त्रों एवं व्यवहारोंमें भी शाखानुसार साधारण अन्तर दिखायी देता है। छन्दोगपद्धतिमें चूडाकरण, उपनयन एवं समावर्तनके पश्चात् आचार्यद्वारा वामदेवगानका विशेषरूपसे विधान है। समयातिक्रमणमें शाट्यायन होम (कौहलीय शाखान्तरविषयक)-का भी विधान किया जाता है। उपनयन-संस्कारके क्रममें ब्रह्मचारीका भिक्षा माँगना वैदिक युगीन विधान है। इस क्रममें प्रथमतः मातृ-भिक्षा प्रशस्त मानी जाती है। तदनन्तर बहन, मौसी एवं अन्य सम्बन्धी महिलाओंसे भिक्षा माँगनी चाहिये, जो कभी ब्रह्मचारीका अपमान न करें। जैसा कि शास्त्रमें कहा गया है—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥

ब्रह्मचारी (उपनीत वटु)-की आचार-संहिता—समावर्तनकर्मके पश्चात् उपनीत वटुको तीन रात्रिपर्यन्त (रातिम) विशेष आचारसंहिता (व्रत)-में रहना चाहिये (**'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्'**), जिसके अन्तर्गत सदाचारसे रहना, क्रोधशून्य, कटुभाषण, अनर्गल-प्रलाप और यत्र-तत्र भोजन करना वर्जित है अर्थात् संयम-नियमसे रहना चाहिये। उपनयन-संस्कार-तिथिसे एक महीनेके पश्चात् पुनः गौके खुरके परिमाणमें शिखा-स्थापन करना चाहिये। सन्ध्योपासन एवं गायत्री-जप आदिकी भी अनिवार्यता है। इसके पश्चात् ही यह यज्ञोपवीत-संस्कार पूर्णताको प्राप्त करता है।

उपनयन-संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्यों?—यह संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकको द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। एक प्रकारसे यह दूसरा जन्म ही होता है। मन्वादि शास्त्रोंमें कहा गया है—**'द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः।'**

द्विजत्वप्राप्तिके पश्चात् ही वह वेद-वेदाङ्ग एवं अन्य शास्त्रोंके एवं सभी विद्याओंके अध्ययनका अधिकारी होता है। वस्तुतः यह संस्कार विद्यारम्भका प्रथम सोपान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें गायत्री-मन्त्रकी उपासना विशेषरूपसे की जाती है, जिससे दोषोंका अपाकरण होता है। बुद्धि सभी विद्याओंके ग्रहणमें स्फीत होती है। सद्बुद्धिप्राप्तिका यह अमोघ मन्त्र है। इसका ध्यान-जप करके मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करना चाहिये।

गायत्री-मन्त्र—**'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥'**

नवीन यज्ञोपवीत धारण-मन्त्र सामवेदी (छन्दोग)—

ॐ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्यत्वोपवीतेनोपनह्यामि।

वाजसनेयी (यजुर्वेदीय) यज्ञोपवीत धारण-मन्त्र—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इस प्रकार यह उपनयन-संस्कार द्विजमात्रके लिये परमोपयोगी सिद्ध होता है। उपर्युक्त विवेचनात्मक विवरण ही मिथिलाके सांस्कृतिक उपनयन-संस्कारकी विशेषता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें संस्कार-चिन्तन

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

श्रीमद्भगवद्गीताके १६वें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने संस्कारोंका सुन्दर वर्णन किया है। भगवान् कहते हैं कि जगत्के प्राणियोंमें दो प्रकारके संस्कार पाये जाते हैं—दैवी संस्कार और आसुरी संस्कार—

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।'

दैवी संस्कार प्राणियोंको मुक्ति देते हैं और आसुरी संस्कार बन्धनकारी माने गये हैं—

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(गीता १६।५)

पुन: भगवान् दैवी और आसुरी संस्कारवाले प्राणियोंके गुण, स्वभाव तथा चरित्रका अन्तर निम्न प्रकारसे स्पष्ट करते हैं—

दैवी संस्कार—इस संस्कारसे सम्पन्न प्राणियोंमें सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, तेज, त्याग, दम, दान, शौच, तप, यज्ञ, स्वाध्याय, सरलता, कोमलता, लज्जा और शान्ति—ये गुण होते हैं। वे अन्त:करणसे पवित्र और ज्ञानके लिये योगमें सुदृढ़ स्थितिवाले होते हैं। उन्हें न किसीसे भय होता है और न द्रोह। उनमें क्रोध, चञ्चलता, लोलुपता और अतिमानिताका सर्वथा अभाव होता है। वे किसीकी चुगली या निन्दा नहीं करते, प्रत्युत सभी प्राणियोंके प्रति उनके भीतर दयाका भाव भरा होता है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६।१—३)

आसुरी संस्कार—इस संस्कारवाले प्राणियोंमें असत्य, अशौच, अभिमान, दम्भ, दर्प, क्रोध, कठोरता और अविवेकका प्राचुर्य होता है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६।४)

वे प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानते और सदाचारसे कोसों दूर रहते हैं। उनके मतमें जगत्का मूल 'काम' है और यह स्त्री-पुरुषके संयोगमात्रसे उत्पन्न हुआ है। वे ईश्वरको नहीं मानते, बल्कि स्वयंको ही ईश्वर, समर्थ, सिद्ध, बलवान्, सुखी, भोगी, धनवान्, कुलीन और अद्वितीय—सब कुछ समझते हैं। उनके लिये जीवनका चरम लक्ष्य है—कामभोग। इसलिये वे हमेशा सोचते रहते हैं कि इतना धन पा लिया, अब और धन मेरा हो जायगा। यह इच्छा पूरी हो गयी, अब अगली इच्छा भी पूरी कर लूँगा। अमुक शत्रुको मार डाला और दूसरोंको भी मार डालूँगा। 'जगत् ही सब कुछ है'—ऐसा मानकर आसुरी प्राणी सैकड़ों आशाओं और दुराग्रहोंमें बँधकर अन्यायपूर्वक धनसञ्चयकी चेष्टामें लगे रहते हैं। सांसारिक भोगोंको ही सर्वस्व समझनेवाले ये प्राणी अज्ञानसे मोहित होकर आजीवन मोह-जालसे घिरे रहते हैं। भोगकामनाओंकी अपरिमित चिन्ताएँ इन्हें सताती रहती हैं। ये यदि नाममात्रका यज्ञ भी करते हैं तो अपनी अकड़ और दम्भके कारण अविधिपूर्वक ही करते हैं। अपने तथा दूसरोंमें अवस्थित भगवान्से इन्हें द्वेष रहता है और अपनी मूढ़ताके कारण ये बार-बार आसुरी योनिमें जन्म लेते हैं तथा अन्तत: उससे भी अधम गतिमें पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार प्राणी अपने-अपने दैवी और आसुरी संस्कारोंके अनुसार प्रकृतिवश जगत्में चेष्टाएँ करते हैं—

'सदृशं चेष्टते स्वस्या: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।'

(गीता ३।३३)

स्वभाव और संस्कारकी प्रबलताके सामने किसीका हठ नहीं चलता—

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति॥'

(गीता ३।३३)

दैवी संस्कारसम्पन्न प्राणी तो शीघ्र ही भगवत्कृपा प्राप्त कर लेते हैं, किंतु आसुरी संस्कारवाले प्राणी भी यदि भगवान्के चरणोंका आश्रय प्राप्त कर लें तो उन्हें अधम गतिसे मुक्ति मिल जायगी; क्योंकि भगवान् अपने शरणागतोंके कल्याणके लिये वचनबद्ध हैं—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:॥'

(गीता १८।६६)

तू शोक मत कर, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

गौतमधर्मसूत्रमें संस्कार

(डॉ० श्रीदिनेशकुमारजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, पुराणेतिहासाचार्य)

'संस्कार' शब्द '**सम्**' उपसर्गपूर्वक '**कृ**' धातुमें '**घञ्**' प्रत्यय लगाकर '**सुट्**' का आगम करके निष्पन्न होता है। मनीषियोंने इस शब्दके अनेक अर्थ एवं व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। '**योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते**' अर्थात् किसी पदार्थमें योग्यताको धारण करानेवाली क्रियाएँ 'संस्कार' कहलाती हैं अथवा संस्कार उसे कहते हैं, जिसके किये जानेपर कोई पदार्थ किसी कार्यके लिये योग्य हो जाता है अथवा '**गुणान्तराधानं संस्कारः**' अर्थात् दूसरे गुणोंको धारण करा देना ही संस्कार है। न्यायदर्शनमें उस आत्मव्यञ्जक शक्तिको संस्कार कहा गया है, जो भावोंको व्यक्त करनेकी क्षमता रखती है। वेदान्तदर्शनमें मिथ्या आरोप संस्कार है, जो शारीरिक क्रियाओंके रूपमें जीवपर आरोपित किया जाता है।

सूत्र एवं स्मृतिग्रन्थोंमें संस्कारोंका विशद निरूपण उपलब्ध होता है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें संस्कारोंकी संख्याके विषयमें मतभेद प्राप्त होता है। अधिकांश गृह्यसूत्रोंमें अन्त्येष्टि-संस्कारका उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है, किंतु मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृतिमें अन्त्येष्टिकी गणना भी संस्कारोंमें की गयी है। आश्वलायनगृह्यसूत्र तथा पारस्करगृह्यसूत्रमें वर्णित क्रमशः ग्यारह एवं तेरह संस्कारोंमें अन्त्येष्टिकी भी गणना है। बौधायनगृह्यसूत्र एवं वाराह-गृह्यसूत्रमें तेरह संस्कारोंका वर्णन है, किंतु वहाँ अन्त्येष्टिको स्थान नहीं मिला है। वैखानसगृह्यसूत्रमें अठारह संस्कार माने गये हैं, किंतु उनमें भी अन्त्येष्टिका नाम नहीं है।

धर्मसूत्रोंमें संस्कारोंका विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता, केवल नाम-परिगणनमात्र है। कहनेको तो गौतमधर्मसूत्रमें संस्कारोंकी संख्या अड़तालीस दी गयी है, किंतु वर्णन मात्र चार-पाँच संस्कारोंका ही है। गौतमधर्मसूत्रमें सर्वप्रथम गर्भाधान-संस्कारके निषिद्धेतर कालका वर्णन प्राप्त होता है। सामान्यतः स्त्रीके ऋतुकालकी चौथी रात्रिसे लेकर सोलहवीं रात्रितकका निषिद्धेतर समय गर्भाधानके लिये उपयुक्त माना जाता है। गौतमधर्मसूत्रमें गर्भाधानकालकी व्यवस्थाके विधानके अन्तर्गत कहा गया है कि पुरुष ऋतुकालमें पत्नीके समीपमें जाय—

'**ऋतावुपेयात्॥**' (१।५।१)

उपनयन-संस्कारके विषयमें बताया गया है कि 'उपनयन-संस्कार' से बालक द्विज होता है—'**तद् द्वितीयं जन्म॥**' (१।१।९) जो यह संस्कार नहीं कराता वह व्रात्य अथवा वृषभ होता है।

यह द्वितीय जन्मरूप उपनयन-संस्कार जिसके द्वारा सम्पन्न कराया जाता है, वह पुरुष आचार्य कहलाता है—'**तदुपनयनं पितुरभावे यस्मात्पुरुषाद्भवति स आचार्यः॥**' (१।१।१०)

उपनयन-संस्कारके पश्चात् बालकको वेदाध्ययन करानेके कारण अध्यापन करानेवाला भी आचार्य कहलानेका अधिकारी होता है—

'**वेदानुवचनाच्च॥**' (१।१।११)

गौतमधर्मसूत्रके अनुसार ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार आठवें वर्षमें हो जाना चाहिये—

'**उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे॥**' (१।१।६)

तेजकी कामनासे नवें तथा ब्रह्मवर्चस्की कामनासे पाँचवें वर्षमें इच्छानुकूल ब्राह्मणबालकका उपनयनसंस्कार करना चाहिये—

'**नवमे पञ्चमे वा काम्यम्॥**' (१।१।७)

उपनयनकालके वर्षोंकी गिनती गर्भकालसे करनी चाहिये, जन्मके समयसे नहीं—'**गर्भादि संख्या वर्षाणाम्॥**' (१।१।८)

क्षत्रिय एवं वैश्यके उपनयनसंस्कारके सम्बन्धमें गौतमधर्मसूत्रमें व्यवस्था है कि गर्भकालसे ग्यारहवें और बारहवें वर्षमें क्रमशः क्षत्रिय एवं वैश्यका उपनयनसंस्कार करना चाहिये—

'**एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः॥**' (१।१।१२)

सोलहवें वर्षतक ब्राह्मण सावित्रीच्युत नहीं होता अर्थात् सोलहवें वर्षतक सावित्रीके उपदेशकी अवधि रहती है—

'**आषोडशाद् ब्राह्मणस्यापतिता सावित्री॥**' (१।१।१३)

बाईसवें वर्षतक क्षत्रियकी और उससे दो वर्ष अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्षतक वैश्यकी सावित्री च्युत नहीं होती—

'**द्वाविंशते राजन्यस्य द्व्यधिकाया वैश्यस्य॥**'

(१।१।१४)

विवाह-संस्कारके विषयमें गौतमधर्मसूत्रमें व्यवस्था है कि गृहस्थ जाति और कुलमें अपने समान, पहले वाग्दानद्वारा किसीको न दी गयी तथा अपनेसे कम आयुकी कन्यासे विवाह करे—

'**गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्॥**'

(१।४।१)

विवाह किन-किनके मध्य होना चाहिये? इस शंकाका समाधान करते हुए गौतमधर्मसूत्रमें व्यवस्था है कि विवाह भिन्न प्रवरवालोंमें होना चाहिये—'**असमान-प्रवरैर्विवाहः॥**' (१।४।२) इसी संदर्भमें आगे कहा गया है कि पितासे लेकर उनके बन्धुवर्गमें सात पीढ़ीसे ऊपरकी बीजी (नियोगविधिसे उत्पन्न करनेवाले पितासे भिन्न पुरुष)-के वंशमें सात पीढ़ीसे ऊपरकी मातासे आरम्भ करके उसके बन्धुवर्गमें पाँच पीढ़ीसे ऊपरकी कन्याके साथ भी विवाह किया जा सकता है—

'**ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात्॥**'

(१।४।३)

गौतमधर्मसूत्रमें विवाहहेतु आयुका विधान विशेषतः द्रष्टव्य है। कन्याके विवाहके सम्बन्धमें उल्लेख है कि कन्याका विवाह उसके ऋतुकाल (रजोदर्शन)-से पूर्व कर देना चाहिये—'**प्रदानं प्रागृतोः॥**' (२।९।२१)

विवाहके प्रकारके सम्बन्धमें गौतमधर्मसूत्रमें आठ प्रकारके विवाहोंका संकेत प्राप्त होता है—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाचविवाह। गौतमधर्मसूत्रके अनुसार ब्राह्मविवाहमें चरित्र, कुल एवं शीलसम्पन्न योग्य वरको माता-पिताद्वारा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कन्याको प्रदान करनेका विधान किया गया है—

'**ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यादाच्छाद्यालं-कृताम्॥**' (१।४।४)

प्राजापत्यविवाहमें '**सह धर्मश्चर्यताम्**' तुम दोनों एक साथ रहकर गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करो—मन्त्रके साथ कन्या प्रदान की जाती है। ब्राह्मविवाहसे प्राजापत्यमें यह विशेषता है कि उपर्युक्त मन्त्रमें वर और कन्याको केवल गृहस्थाश्रमधर्मका पालन करने एवं वरको दूसरा विवाह न करनेको कहा गया है—

'**संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति॥**'

(१।४।५)

आर्षविवाहमें कन्याके अभिभावकको दो गाय देनेकी बात कही गयी है—

'**आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात्॥**' (१।४।६)

इसी प्रकार वेदीपर यज्ञकर्म करानेवाले ऋत्विक्को आभूषणसे अलंकृत करके कन्या प्रदान करनेपर दैवविवाह कहा गया है—

'**अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य॥**' (१।४।७)

इसी प्रकार चाहनेवाली कन्याके साथ (वरका) स्वयं अपनी इच्छासे सम्बन्ध कर लेना गान्धर्वविवाह कहलाता है—'**इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः॥**' (१।४।८)

धन देकर अपने वशमें करके कन्याका ग्रहण करनेपर आसुरविवाह कहलाता है—'**वित्तेनाऽऽनतिः स्त्रीमतामासुरः॥**' (१।४।९)

बलपूर्वक कन्याका अपहरण कर लेनेपर राक्षसविवाह होता है—'**प्रसह्याऽऽदानाद्राक्षसः॥**' (१।४।१०)

प्रसुप्त मूर्च्छित कन्याके साथ संगम पैशाचविवाह कहा गया है—'**असंविज्ञातोपसंगमात्पैशाचः॥**' (१।४।११)

उपर्युक्त विवाहप्रकारोंमें प्रथम चार प्रकारके विवाह (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैवविवाह) उत्तम कोटिके माने गये हैं—'**चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः॥**' (१।४।१२)

इसके साथ ही गौतमधर्मसूत्रमें यह उल्लेख भी मिलता है कि कुछ स्मृतिकार प्रथम छः प्रकारके विवाहोंको धर्मसंगत मानते हैं अर्थात् उनकी दृष्टिमें गान्धर्व और आसुरविवाह भी धर्मानुकूल एवं श्रेष्ठ हैं—'**षडित्येके॥**' (१।४।१३)

इसी प्रकार अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहोंके संदर्भमें भी गौतमधर्मसूत्रमें उल्लेख प्राप्त होता है।

~~0~~

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित संस्कार

(श्रीभवानीशंकर परवतरामजी जोशी 'मधु')

मानवके चरित्रनिर्माण और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये संस्कार आवश्यक हैं। ये मानवजीवनके मूल स्रोत हैं। संस्कारका सम्बन्ध मानवके कर्म और व्यवहारसे है। मानवको जन्मके समय जैसे संस्कार मिलते हैं, प्राय: वैसा ही भावी जीवन बनता है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें सोलह संस्कारोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे कुछ संस्कार जन्मके पूर्व किये जाते हैं, कुछ जीवनमें और कुछ मृत्युके बाद भी किये जाते हैं।

जन्मसे पूर्वके संस्कारोंमें गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त आदि और जन्मके बाद जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, विद्याध्ययन, विवाह आदि तथा मृत्युके बाद— और्ध्वदैहिक अन्त्येष्टि-संस्कार, श्राद्ध आदि कर्म।

पूज्य गोस्वामी तुलसीदासजीने उपर्युक्त संस्कारोंमें कुछ मुख्य संस्कारोंका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें किया है, जो श्रीराम एवं अन्य पात्रोंसे सम्बन्धित हैं। दशरथजीने पुत्रप्राप्तिके लिये गर्भाधानरूप यज्ञ किया—

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥

(रा०च०मा० १।१८९।५-६)

हविके प्राप्त होनेपर उसे यथायोग्य रानियोंमें बाँट दिया, जिससे तीनों रानियाँ गर्भवती हो गयीं—

एहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदयँ हरषित सुख भारी॥

(रा०च०मा० १।१९०।५)

इसके बाद रामका जन्म होनेपर गुरु वसिष्ठद्वारा जातकर्म और नान्दीमुखश्राद्ध कराया गया—

नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥

(रा०च०मा० १।१९३)

आगे संत तुलसीदासजीने नामकरणका वर्णन किया है—

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥

(रा०च०मा० १।१९७।२)

मुनि वसिष्ठने चारों भाइयोंके नामकरण-संस्कारमें आकर उनके नाम रखे। आगे मानसमें अन्नप्राशन-लीलाका भी वर्णन किया गया है—

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥

(रा०च०मा० १।२०३।६-७)

चूडाकरणका वर्णन भी मानसमें आया है—

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥

(रा०च०मा० १।२०३।३)

संत तुलसीदासजीने मानसमें उपनयन-संस्कारका भी उल्लेख किया है। गुरु वसिष्ठने चारों भाइयोंका उपनयन-संस्कार कराया और विद्याध्ययनके लिये वे गुरुकुलमें गये—

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

(रा०च०मा० १।२०४।३-४)

गुरुकुलमें श्रीरामजीने विद्याके साथ धनुर्विद्याका ज्ञान भी प्राप्त किया—

'खेलहिं खेल सकल नृपलीला॥'

(रा०च०मा० १।२०४।६)

आगे संत तुलसीदासजीने श्रीराम आदि चारों भाइयोंके विवाह-संस्कारका वर्णन भी किया है। धनुष-भंगके बाद जब सीताजीने श्रीरामके गलेमें जयमाल डाली तो यह देखकर सभी समाज—देव, किन्नर आदि प्रसन्न हुए—

सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥
नाचहिं गावहिं बिबुध बधूटीं। बार बार कुसुमांजलि छूटीं॥
जहँ तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥
महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥

(रा०च०मा० १।२६५।२—५)

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके द्वारा उत्तम संस्कारोंकी प्रतिष्ठाका वर्णन भी तुलसीदासजीने किया है। उन्होंने पिताकी और गुरुकी अविचारणीय आज्ञाका पालन कर मानवसमाजके लिये एक आदर्श स्थापित किया है—

मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥

(रा०च०मा० १।७७।३)

गुरु विश्वामित्रकी सेवामें भी श्रीरामने अपनी मर्यादा दिखायी है। आप निर्भय होकर यज्ञ प्रारम्भ करें—ऐसा कहकर दोनों भाई यज्ञकी रखवाली करने लगे—

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥
(रा०च०मा० १।२१०।१-२)

आगे पिताकी आज्ञासे वनगमनका भी वर्णन मिलता है।

संत तुलसीदासजीने मृत्युके बाद किये जानेवाले संस्कारोंका वर्णन भी मानसमें किया है। महाराजा दशरथकी मृत्युके बाद भरतके द्वारा किये गये उनके अन्तिम संस्कारका वर्णन किया गया है—

चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
(रा०च०मा० २।१७०।३—६)

बालिवधके बाद सुग्रीवद्वारा किये गये अन्तिम संस्कारका भी वर्णन किया गया है—

तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा॥
(रा०च०मा० ४।११।८)

मरणासन्न जटायुने जब अपने प्राण त्यागे तो श्रीरामने अपने हाथसे उसका अन्तिम संस्कार किया—

'तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥'
(रा०च०मा० ३।३२)

उसी जटायुके भाई सम्पातिने जब अपने भाईकी मृत्युका समाचार सुना तो समुद्रके किनारे जाकर उसे तिलाञ्जलि दी—

मोहि लै जाहु सिंधुतट देउँ तिलांजलि ताहि।
बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि॥
'अनुज क्रिया करि सागर तीरा।'
(रा०च०मा० ४।२७, २८।१)

रावणवधके बाद विभीषणद्वारा अपने भाईका अन्तिम संस्कार (क्रिया)-का वर्णन भी तुलसीदासजीके मानसमें वर्णित है—

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जियँ जानी॥
(रा०च०मा० ६।१०५।७-८)

सभी रानियोंद्वारा दी गयी तिलाञ्जलिका वर्णन भी मानसमें तुलसीदासजीने किया है—

मंदोदरी आदि सब देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति गुन गन बरनत मन माहि॥
(रा०च०मा० ६।१०५)

इस प्रकार मानसमें संत तुलसीदासजीने सोलह संस्कारोंमें मुख्य-मुख्य संस्कारोंका वर्णन किया है, जो मानव-जीवनमें आवश्यक हैं। आजके समयमें हम संस्कारोंको भूल गये हैं, इसी कारण विभिन्न समस्याओंमें उलझे रहते हैं। अपने शास्त्रोंद्वारा निर्धारित संस्कारोंको करनेपर ही मानव सच्चा मानव बन सकता है।

~~o~~
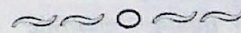
हरिकी झलक

(डॉ० श्रीराजेन्द्रकुमारजी खरे)

कालिंदीके तीर एक दिन सांझ काल मैं निकल पड़ा
देख सुदृश्य हुआ मन पुलकित अंतःमें आनंद बढ़ा।
देख रेणुका मार्ग सुखद श्याम घटासे गगन मढ़ा
रिमझिम रिमझिम जलकी बूँदें सुखद वायुका वेग बढ़ा।
देख मधुरता दिव्य दृश्यकी मम नयनोंमें भास हुआ
मानो जगपति 'राधावर'का सखासमेत प्रकाश हुआ।
धेनु चराते मानो वे प्रिय लीला करते दिव्य महा
वंशीतान सुनाते जब वे चहुँदिशि शांति समीर बहा।
हरिकी लीला देख अलौकिक तनकी सुधि मैंने बिसराई
चाहा पकड़ूँ कमलनयनको दिये न मुझको पकड़ाई।

~~o~~
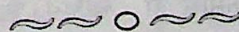
जपमालाके संस्कार

साधकोंके लिये माला बड़े महत्त्वकी वस्तु है। माला भगवान्‌के स्मरण और नामजपमें बड़ी ही सहायक होती है, इसलिये साधक उसे अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं और उसे गुप्त धनकी भाँति सुरक्षित रखते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जपकी संख्या अवश्य होनी चाहिये। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिये सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने पाती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं, उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं या कितने समयतक जप बंद रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि कभी कहीं मन चला भी जाता है तो मालाका चलना बंद हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य ही चलती रहेगी। ये दोनों कुछ ही समयमें मनको खींच लानेमें समर्थ हो सकेंगी। जो लोग यह कहते हैं कि मैं जप तो करता हूँ पर मेरा मन कहीं अन्यत्र रहता है, उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि यदि जीभ और माला दोनों घूमती रहीं—क्योंकि बिना कुछ-न-कुछ मन रहे ये घूम नहीं सकतीं; तो बाहर घूमनेवाला मन कहीं भी आश्रय न पाकर अपने उसी स्थिर अंशके पास लौट आवेगा, जो मूर्च्छितरूपसे मालाकी गतिमें कारण हो रहा है। मालाके फिरनेमें जो श्रद्धा और विश्वासकी शक्ति काम कर रही है, वह एक दिन व्यक्त हो जायगी और सम्पूर्ण मनको आत्मसात् कर लेगी।

मालाके द्वारा जब इतना काम हो सकता है, तब आदरपूर्वक उसका विचार न करके यों ही साधारण-सी वस्तु समझ लेना भूल नहीं तो और क्या है? उसे केवल गिननेकी एक तरकीब समझकर अशुद्ध अवस्थामें भी पास रखना, बायें हाथसे गिन लेना, लोगोंको दिखाते फिरना, पैरतक लटकाये रहना, जहाँ-कहीं रख देना, जिस-किसी चीजसे बना लेना तथा चाहे जिस प्रकार गूँथ लेना सर्वथा वर्जित है। ऐसी बातें समझदारी और श्रद्धाकी कमीसे ही होती हैं, विशेषकर उन लोगोंसे, जिन्होंने मालाके विधि-विधानपर कभी विचार ही नहीं किया है। शास्त्रोंमें मालाके सम्बन्धमें बहुत विचार किया गया है। यहाँ संक्षेपसे उसका कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराया जाता है—

माला प्रायः तीन प्रकारकी होती है—करमाला, वर्णमाला और मणिमाला। अँगुलियोंपर जो जप किया जाता है, वह करमालाका जप है। यह दो प्रकारसे होता है—एक तो अँगुलियोंसे ही गिनना और दूसरा अँगुलियोंके पर्वोंपर गिनना। शास्त्रतः दूसरा प्रकार ही स्वीकृत है। इसका नियम यह है कि अनामिकाके मध्यभागसे नीचेकी ओर चले, फिर कनिष्ठाके मूलसे अग्रभागतक और फिर अनामिका तथा मध्यमाके अग्रभागपर होकर तर्जनीके मूलतक जाय। इस क्रमसे अनामिकाके दो, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका एक, मध्यमाका एक और तर्जनीके तीन पर्व—कुल दस संख्या होती है। मध्यमाके दो पर्व सुमेरुके रूपमें छूट जाते हैं। साधारणतः करमालाका यही क्रम है, परंतु अनुष्ठानभेदसे इसमें अन्तर भी पड़ता है। जैसे शक्तिके अनुष्ठानमें अनामिकाके दो पर्व, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका अग्रभाग एक, मध्यमाके तीन पर्व और तर्जनीका एक मूलपर्व—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। श्रीविद्यामें इससे भिन्न नियम है। मध्यमाका मूल एक, अनामिकाका मूल एक, कनिष्ठाके तीन, अनामिका और मध्यमाके अग्रभाग एक-एक और तर्जनीके तीन—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। करमालासे जप करते समय अँगुलियाँ अलग-अलग नहीं होनी चाहिये। थोड़ी-सी हथेली मुड़ी रहनी चाहिये। मेरुका उल्लङ्घन और पर्वोंकी सन्धि (गाँठ)-का स्पर्श निषिद्ध है। यह निश्चित है कि जो इतनी सावधानी रखकर जप करेगा, उसका मन अधिकांश अन्यत्र नहीं जायगा। हाथको हृदयके सामने लाकर, अँगुलियोंको कुछ टेढ़ी करके वस्त्रसे उसे ढककर दाहिने हाथसे ही जप करना चाहिये। जप अधिक संख्यामें करना हो तो इन दशकोंको स्मरण नहीं रखा जा सकता। इसलिये उनको स्मरण करनेके लिये एक प्रकारकी गोली बनानी चाहिये। लाक्षा, रक्तचन्दन, सिन्दूर और गौके सूखे कंडेको

चूर्ण करके सबके मिश्रणसे वह गोली तैयार करनी चाहिये। अक्षत, अँगुली, अन्न, पुष्प, चन्दन अथवा मिट्टीसे उन दशकोंका स्मरण रखना निषिद्ध है। मालाकी गिनती भी इनके द्वारा नहीं करनी चाहिये।

वर्णमालाका अर्थ है—अक्षरोंके द्वारा संख्या करना। यह प्रायः अन्तर्जपमें काम आती है, परंतु बहिर्जपमें भी इसका निषेध नहीं है। वर्णमालाके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि पहले वर्णमालाका एक अक्षर बिन्दु लगाकर उच्चारण कीजिये और फिर मन्त्रका—इस क्रमसे अवर्गके सोलह, कवर्गसे पवर्गतकके पचीस और यवर्गके हकारतक आठ और पुनः एक लकार—इस प्रकार पचासतक गिनते जाइये—सौकी संख्या पूरी हो जायगी। क्षको सुमेरु मानते हैं। उसका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। संस्कृतमें 'त्र' और 'ज्ञ' स्वतन्त्र अक्षर नहीं, संयुक्ताक्षर माने जाते हैं। इसलिये उनकी गणना नहीं होती। वर्ग भी सात नहीं, आठ माने जाते हैं। आठवाँ शकारसे प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा 'अं कं चं टं तं पं यं शं' यह गणना करके आठ बार और जपना चाहिये—ऐसा करनेसे जपकी संख्या १०८ हो जाती है। ये अक्षर तो मालाके मणि हैं। इनका सूत्र है कुण्डलिनी शक्ति। वह मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त सूत्ररूपसे विद्यमान है। उसीमें ये सब स्वर-वर्ण मणिरूपसे गुथे हुए हैं। इन्हींके द्वारा आरोह और अवरोह क्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जप करना चाहिये। इस प्रकार जो जप होता है, वह सद्यः सिद्धिप्रद होता है।

जिन्हें अधिक संख्यामें जप करना हो, उन्हें तो मणि-माला रखना अनिवार्य है। मणि (मनिया) पिरोये होनेके कारण इसे मणिमाला कहते हैं। यह माला अनेक वस्तुओंकी होती है। रुद्राक्ष, तुलसी, शङ्ख, पद्मबीज, जीवपुत्रक, मोती, स्फटिक, मणि, रत्न, सुवर्ण, मूँगा, चाँदी, चन्दन और कुशमूल—इन सभीके मनियोंसे माला तैयार की जा सकती है। इनमें वैष्णवोंके लिये तुलसी और स्मार्त, शैव, शाक्त आदिकोंके लिये रुद्राक्ष सर्वोत्तम माना गया है। माला बनानेमें इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक चीजकी मालामें दूसरी चीज न लगायी जाय। विभिन्न कामनाओंके अनुसार भी मालाओंमें भेद होता है और देवताओंके अनुसार भी। उनका विचार कर लेना चाहिये। मालाके मणि (दाने) छोटे-बड़े न हों। एक सौ आठ दानोंकी माला सब प्रकारके जपोंमें काम आती है। ब्राह्मण-कन्याओंके द्वारा निर्मित सूतसे माला बनायी जाय तो सर्वोत्तम है। शान्तिकर्ममें श्वेत, वशीकरणमें रक्त, अभिचारमें कृष्ण और मोक्ष तथा ऐश्वर्यके लिये रेशमी सूतकी माला विशेष उपयुक्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्णके सूत्र श्रेष्ठ हैं। रक्त वर्णका प्रयोग सब वर्णोंके लोग सब प्रकारके अनुष्ठानोंमें कर सकते हैं। सूतको तिगुना करके फिरसे तिगुना कर देना चाहिये। प्रत्येक मणिको गूँथते समय प्रणवके साथ एक-एक अक्षरका उच्चारण करते जाना चाहिये—'**ॐ अं**' कहकर प्रथम मणि तो '**ॐ आं**' कहकर दूसरी मणि। बीचमें जो गाँठ देते हैं, उसके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे तो गाँठ दें और चाहे तो न दें। दोनों ही बातें ठीक हैं। माला गूँथनेका मन्त्र अपना इष्टमन्त्र भी है। अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि देकर सुमेरु गूँथे और पुनः ग्रन्थि लगावे। स्वर्ण आदिके सूत्रसे भी माला पिरोयी जा सकती है। रुद्राक्षके दानोंमें मुख और पुच्छका भेद भी होता है। मुख कुछ ऊँचा होता है और पुच्छ नीचा। पोहनेके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दानोंका मुख परस्परमें मिलता जाय अथवा पुच्छ। गाँठ देनी हो तो तीन फेरेकी अथवा ढाई फेरेकी लगानी चाहिये। ब्रह्मग्रन्थि भी लगा सकते हैं। इस प्रकार मालाका निर्माण करके उसका संस्कार करना चाहिये।

पीपलके नौ पत्ते लाकर एकको बीचमें और आठको अगल-बगल इस ढंगसे रखे कि वह अष्टदल कमल-सा मालूम हो। बीचवाले पत्तेपर माला रखे और '**ॐ अं आं**' इत्यादिसे लेकर '**हं क्षं**' पर्यन्त समस्त स्वर-वर्णोंका उच्चारण करके पञ्चगव्यके द्वारा उसका क्षालन करे और फिर 'सद्योजात' मन्त्र पढ़कर पवित्र जलसे उसको धो डाले। 'सद्योजात' मन्त्र यह है—

ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः।

इसके पश्चात् वामदेवमन्त्रसे चन्दन, अगर, गन्ध आदिके द्वारा घर्षण करे। वामदेवमन्त्र निम्नलिखित है—

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय

नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः।

तत्पश्चात् अघोरमन्त्रसे धूपदान करे।

ॐ अघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः।

—यह अघोरमन्त्र है। तदनन्तर तत्पुरुषमन्त्रसे लेपन करे—

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

इसके पश्चात् एक-एक दानेपर एक-एक बार अथवा सौ-सौ बार ईशानमन्त्रका जप करना चाहिये। ईशानमन्त्र यह है—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदा शिवोम्।

फिर मालामें अपने इष्टदेवताकी प्राण-प्रतिष्ठा करे। तदनन्तर इष्टमन्त्रसे सविधि पूजा करके प्रार्थना करनी चाहिये—

माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

यदि मालामें शक्तिकी प्रतिष्ठा की हो तो इस प्रार्थनाके पहले '**ह्रीं**' जोड़ लेना चाहिये और रक्तवर्णके पुष्पसे पूजा करनी चाहिये। वैष्णवोंके लिये माला-पूजाका मन्त्र है—

'**ॐ ऐं श्रीं अक्षमालायै नमः।**'

अकारादि-क्षकारान्त प्रत्येक वर्णसे पृथक्-पृथक् पुटित करके अपने इष्टमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करना चाहिये। इसके पश्चात् एक सौ आठ आहुति हवन करे अथवा दो सौ सोलह बार इष्टमन्त्रका जप कर ले। उस मालापर दूसरे मन्त्रका जप न करे। स्वयं हिले नहीं और मालाको हिलाये नहीं। आवाज नहीं होनी चाहिये और हाथसे छूटकर गिरनी नहीं चाहिये। मालाका टूटना मृत्यु ही है—ऐसा समझकर निरन्तर सावधान रहना चाहिये। उसे बड़े आदरसे पवित्र स्थानमें रखना चाहिये और प्रार्थना करनी चाहिये—

ॐ त्वं माले सर्वदेवानां सर्वसिद्धिप्रदा मता।
तेन सत्येन मे सिद्धिं देहि मातर्नमोऽस्तु ते॥

ऐसी प्रार्थना करके मालाको गुप्त रखना चाहिये। अङ्गुष्ठ और मध्यमाके द्वारा जप करना चाहिये और तर्जनीसे मालाका कभी स्पर्श नहीं करना चाहिये। सूत पुराना हो जाय तो फिर गूँथकर सौ बार जप करना चाहिये। प्रमादवश हाथसे गिर पड़े अथवा निषिद्ध स्पर्श हो जाय तो भी सौ बार जप करना चाहिये। टूट जानेपर फिर गूँथकर पूर्ववत् सौ बार जप करना चाहिये। मालाके इन नियमोंमें सावधानी बरतनेसे शीघ्र ही सिद्धि-लाभ होगा, इसमें संदेह नहीं।

श्रीदुर्गासप्तशतीके अनुसार देवी-उपासनामें '**ऐं ह्रीं अक्षमालिकायै नमः**' मन्त्रसे मालाकी पूजा करनी चाहिये तत्पश्चात् इस प्रकार उसकी प्रार्थना करनी चाहिये—

ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥
ॐ अविघ्नं कुरु माले त्वं गृह्णामि दक्षिणे करे।
जपकाले च सिद्ध्यर्थं प्रसीद मम सिद्धये॥

ॐ अक्षमालाधिपतये सुसिद्धिं देहि देहि सर्वमन्त्रार्थसाधिनि साधय साधय सर्वसिद्धिं परिकल्पय परिकल्पय मे स्वाहा।

मालाके संस्कारकी एक और प्रक्रिया है, जिसका आगम-कल्पद्रुममें उल्लेख हुआ है। भूतशुद्धि आदि करके मालामें विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेशका आवाहन करके पूजा करनी चाहिये। फिर मालाको पञ्चगव्यमें डालकर '**ॐ हे सौः**' इस मन्त्रसे निकालकर उसको सोनेके पात्रमें रखे। उसके ऊपर पञ्चामृतके नियमसे दूध, दही, घी, मधु और शीतल जलसे स्नान कराये। इसके पश्चात् चन्दन, कस्तूरी और कुमकुम आदि सुगन्धद्रव्यसे मालाको लिप्त करे और '**ॐ हे सौः**' इस मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। इसके पश्चात् मालामें नवग्रह, दिक्पाल और गुरुदेवकी पूजा करके उस मालाको ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकारकी माला ही प्रत्येक क्षण भगवान्‌का स्मरण दिलाती रहती है। साधकको मालाकी आवश्यकता, उसके भेद, निर्माणपद्धति, संस्कार और प्रायश्चित्त जानकर उनके अनुसार ही अनुष्ठान करना चाहिये।

'दिव्यावदान' में संस्कार-विवेचन

[बौद्धग्रन्थोंके आधारपर]

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी', डी०लिट्०)

बौद्ध संस्कृतसाहित्यमें 'दिव्यावदान' एक संकलित ग्रन्थ है और इसका संग्रह विभिन्न स्रोतोंसे किया गया है। यह किसी एक ग्रन्थकारकी कृति नहीं है।

दिव्यावदानकी सामग्री बहुत कुछ मूल सर्वास्तिवादियोंके 'विनयवस्तु' और कुमारलातकी 'कल्पनामण्डितिका' से प्राप्त हुई है।

दिव्यावदानमें सत्य, त्याग, मैत्री, मातृ-सेवा, सदाचार, संस्कार, कर्तव्यपालन आदिके आदर्शोंकी उपलब्धि होती है।

दिव्यावदान दिव्य अवदानोंका संकलन है। ये अवदान बौद्धोंके धर्मग्रन्थों—विनय, दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम आदिमें यत्र-तत्र बिखरे हुए थे, जिनका एकत्र संकलन युवा भिक्षुओंके लाभको दृष्टिमें रखते हुए किया गया प्रतीत होता है। अवदानकी कई कथाएँ विनयसे ली गयी हैं तो कई सूत्रसे।

जिन सोलह संस्कारोंकी गणना हमें संस्कृत-साहित्यमें प्राप्त होती है, वे बौद्ध-साहित्यमें नहीं उपलब्ध होते, तथापि उनमेंसे कुछका उल्लेख हुआ है, किंतु उनका वह प्राचीन स्वरूप यहाँ नहीं प्राप्त होता। बौद्ध-कालमें संस्कारका आशय किसी लौकिक व्यवहारसे होता था, जिसमें न तो यज्ञ-यागादि किसी धार्मिक कृत्यके अनुष्ठानकी आवश्यकता होती थी और न उन कृत्योंके सम्पादन करनेवाले किसी पुरोहितादिकी ही।

नीचे दिव्यावदानमें प्राप्त होनेवाले कुछ संस्कारोंका परिचय दिया जाता है—

(१) गर्भाधान-संस्कार—दिव्यावदानमें गर्भ-स्थापनकी क्रिया एक संस्कारके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है। इसका स्वरूप पति-पत्नीके रमण-परिचरणद्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले एक सहज व्यापारके रूपमें प्राप्त होता है। इस सम्बन्धमें विभिन्न स्थलोंपर समानरूपसे यह अंश उपलब्ध होता है—

'स तया सार्धं क्रीडते रमते परिचारयति। तस्य क्रीडतो रमतः परिचारयतः पत्नी आपन्नसत्त्वा संवृत्ता।'[१]

आपन्नसत्त्वा स्त्रियोंके आहार-विहारमें विशेष सावधानी रखी जाती थी। उन्हें वैद्योंद्वारा निर्दिष्ट ऐसे आहार दिये जाते थे, जो अति तिक्त, अम्ल, लवण, मधुर, कटु एवं कषाय नहीं होते थे। गर्भपरिपुष्टकालपर्यन्त वे किञ्चिदपि अमनोज्ञ शब्द श्रवण नहीं करती थीं।[२]

(२) जातकर्म अथवा जातिमह-संस्कार—संतानके उत्पन्न होनेपर राजा तथा अन्य सम्पन्न गृहपतिद्वारा इक्कीस[३] दिनोंतक विस्तारके साथ जातकर्म (जातिमह)-संस्कार करनेका उल्लेख प्राप्त होता है। वे नगरको पाषाण, बालुकादिसे रहित कर चन्दन-वारि-सिक्त करा देते थे। नगरमें ध्वज-पताकाएँ फहरायी जाती थीं, सुरभि धूपघटिका रखी जाती थी तथा नानाविध पुष्प बिखेर दिये जाते थे। इस अवसरपर श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और याचकोंको दान भी दिया जाता था।[४]

(३) नामकरण-संस्कार—जातकर्मके पश्चात् शिशुका नाम रखा जाता था। ये नाम सर्वथा कुलके अनुरूप होते थे। नाम खूब सोच-समझकर विचारपूर्वक रखे जाते थे। बिना विचार किये हुए उलटा-सीधा जो जीमें आया, ऐसे नामकरणका विधान नहीं था।[५]

(४) विद्यारम्भ अथवा वेदारम्भ-संस्कार—इस संस्कारका कोई विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता। परंतु यह ज्ञात होता है कि बड़े होनेपर बालक अनेक प्रकारकी शिक्षा

१-पूर्णावदान पृ० १५, स्वागतावदान पृ० १०४, ज्योतिष्कावदान पृ० १६२, संघरक्षितावदान पृ० २०४।

२-कोटिकर्णावदान पृ० १, स्वागतावदान पृ० १०४, सुधनकुमारावदान पृ० २८६।

३-कोटिकर्णावदान पृ० २, पूर्णावदान पृ० १५, स्वागतावदान पृ० १०४।

४-कोटिकर्णावदान पृ० २, पूर्णावदान पृ० १६, स्वागतावदान पृ० १०४, सुधनकुमारावदान पृ० २८६-८७।

५-स्वागतावदान पृ० १०५, संघरक्षितावदान पृ० २०४, सुधनकुमारावदान पृ० २८७।

प्राप्त करता था।[१]

(५) विवाह-संस्कार—अध्ययन समाप्त कर लेने और बालकके वयस्क हो जानेपर उसका विवाह होता था, किंतु यदि वह विवाह न कर सर्वजनहिताय एवं सर्वजनसुखाय तपस्या करनेकी इच्छा प्रकट करता था तो उसके माता-पिता तदर्थ अपनी अनुमति प्रदान कर देते थे।

विवाहके लिये 'निवेश'[२] या 'निवेशन-धर्म'[३] शब्द प्रचलित थे। विवाहमें भी किसी धार्मिक विधि-विधानका अनुष्ठान नहीं होता था और न किसी पुरोहित आदिकी ही आवश्यकता होती थी। यह एक प्रकारका लौकिक व्यवहार था। वरसे शुल्क लेकर कन्याका विवाह करनेकी भी प्रथा थी।

ग्रन्थमें ऐसे भी स्थल प्राप्त होते हैं, जब पिता अपनी सर्वालंकार-विभूषित कन्याका दान किसी योग्य व्यक्तिको करता है। वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित कन्याको सव्य-पाणिसे ग्रहण कर तथा सव्येतर पाणिमें भृङ्गार (जलपात्र)-को धारण कर पिता उसे भार्यार्थ वरको प्रदान करता था। इसमें प्राचीन प्राजापत्य-विवाहका आभास प्राप्त होता है। पुष्करसारी ब्राह्मण कहता है—

ददामि तेऽहं प्रकृतिं ममामलां
शीलेन रूपेण गुणैरुपेतः।
शार्दूलकर्णः प्रकृतिश्च भद्रा
उभौ रमेतां रुचितं ममेदम्॥
प्रगृह्य भृङ्गारमुदकप्रपूर्ण-
मावर्जितो ब्राह्मणो हृष्टचित्तः।
अनुप्रदासीदुदकेन कन्यकां
शार्दूलकर्णस्य इयमस्तु भार्या॥[४]

स्वयंवर-प्रथाका भी उल्लेख मिलता है। पूर्व निर्धारित शर्तोंको पूरा करनेवाला कन्याके पाणिग्रहणका अधिकारी होता है। माकन्दिकावदानमें एक ऐसे लोहार (अयस्कार)-की कथा प्राप्त होती है जो कहता है—'मैं अपनी पुत्रीको कुल, रूप अथवा धनकी दृष्टिसे किसीको नहीं दूँगा, अपितु जो मेरे शिल्पके समान शिल्पवाला या इससे भी अधिक होगा, उसे प्रदान करूँगा।'

उस समय कन्याका पाणिग्रहण कुल, धन, रूप, विद्या आदि दृष्टियोंसे सुविचारित व्यक्तिके साथ किया जाता था। विवाह सदृश-कुलमें ही होते थे। इसका ज्ञान कई स्थलोंपर प्राप्त होनेवाले इस वाक्यसे होता है—**'तेन सदृशात् कुलात् कलत्रमानीतम्।'**

कन्या स्वतः जिस किसीके साथ विवाह करनेके लिये स्वतन्त्र न थी। तदर्थ उसे माता-पिताकी अनुमतिकी अपेक्षा होती थी। प्रकृतिके यह कहनेपर कि मैं आनन्दको अपना स्वामी बनाना चाहती हूँ। भगवान् बुद्ध पूछते हैं—

'अनुज्ञातासि मातापितृभ्यामानन्दाय।'[५]

(६) संन्यास-संस्कार—मनुष्य अपनी समस्त धनराशि दीन, अनाथ, कृपणोंको दान कर[६] तथा पुत्र-कलत्र, राज्य, गृह आदि[७] सभीका परित्याग कर बुद्धकी शरणमें जाता था और वे **'एहि भिक्षो। चर ब्रह्मचर्यम्'** के द्वारा उसे प्रव्रजित करते थे।[८] इस प्रकार वह संन्यास धारण करता था।

(७) अन्त्येष्टि या मृतक-संस्कार—किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जानेपर लोग नील-पीत-लोहित एवं स्वच्छ वस्त्रोंसे शिबिका अलंकृत कर महान् सत्कारके साथ शवको श्मशानमें ले जाते थे।[९] वहाँ सुगन्धित लकड़ियोंकी चिता बनाकर शवको जला देते थे।[१०] इस प्रकार अन्त्येष्टि-क्रियाका सम्पादन किया जाता था। शवको दाह-कर्मके लिये ले जानेको अभिनिर्हरण कहते थे।[११]

श्रीमानों एवं अन्य कुलीनोंके शवदाहके पश्चात् उनके भस्मावशेषपर स्तूप बनाकर उन्हें चिरस्मरणीय बनाया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिव्यावदानमें संस्कारके विभिन्न पक्षोंका विवेचन हुआ है, जो तत्कालीन बौद्ध-संस्कृतिका स्पष्ट परिचायक है।
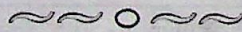
~~~०~~~

१-सुधनकुमारावदान पृ० २८७।

२-सुधनकुमारावदान पृ० २८७, पूर्णावदान पृ० १६—२१, शार्दूलकर्णावदान पृ० ४२५। ३-शार्दूलकर्णावदान पृ० ३१९। ४-शार्दूलकर्णावदान पृ० ४२४। ५-शार्दूलकर्णावदान पृ० ३१६। ६-कोटिकर्णावदान पृ० ११। ७-रुद्रायणावदान पृ० ४७२। ८-पूर्णावदान पृ० २२। ९-चूडापक्षावदान पृ० ४२८। १०-रुद्रायणावदान पृ० ४९१। ११-ज्योतिष्कावदान पृ० १६३।
~~~

मानव-जीवनमें लोक-संस्कार-गीतोंकी उपादेयता

(डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

जीवनको मङ्गलमय बनानेकी प्रक्रियाका नाम संस्कार है। संस्कारोंके दो पक्ष किये जा सकते हैं—(१) लोक-पक्ष तथा (२) शास्त्रीय पक्ष। लोकपक्षमें चलनेवाले संस्कारोंका आधार प्रधानतः स्त्री-कण्ठ ही रहा है। इसीलिये लोक-गीतोंका आधार लेकर चलनेवाले ये संस्कार आज भी अपरिवर्तित रूपसे समाजमें जीवित हैं।

धर्मशास्त्र-निरूपित संस्कार-विधानमें मन्त्र-पाठ तथा यज्ञानुष्ठान आते हैं; जिन्हें हम पौरोहित्यकर्मके अन्तर्गत लेते हैं। जहाँ शास्त्रीय पक्षमें पुरुषकी प्रधानता होती है; वहीं लोकपक्षमें नारीकी प्रधानता व्यापकरूपसे परिलक्षित है। इस लोक-विधि-विधानके अन्तर्गत संस्कार-विषयक लोक-गीत मुख्यरूपसे आते हैं।

भारतीय लोकगीत मङ्गलगान हैं। ये गीत, गीत नहीं अपितु अनुष्ठान हैं, जिनका इतिहास अति प्राचीन है। ये मानव-जीवनके अभिन्न अङ्गके रूपमें अपना अस्तित्व रखते आ रहे हैं। जिस प्रकार शास्त्रीय पक्षमें कर्मकाण्ड-जनित विधि-विधानके अभावमें संस्कार-कर्म सम्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार लोकपक्षजनित विधि-विधानके अभावमें भी इनका पूरा होना सम्भव नहीं। जहाँ शास्त्रविहित अनेक संस्कारोंका लोप हो गया है, वहीं ये गीतका रूप लेकर लोक-पक्षके अन्तर्गत अब भी जीवित हैं और लोक-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें हैं। सामाजिक जीवनमें इन लोकगीतोंका, मङ्गलगानोंका मन्त्रोच्चारणके समान ही महत्त्व है। मन्त्रोंके साथ इनका ऋजु सम्बन्ध है। संस्कार-कर्ममें गीत और मन्त्र साथ-साथ चलते हैं। उदाहरणके लिये उपनयन-संस्कारमें जब ब्रह्मचारी वटु भिक्षा माँगता है तो उस समय मन्त्र है—'**भवति भिक्षां देहि।**' पुरोहित जैसे ही इस मन्त्रका उच्चारण करते हैं कि उधर नारी-कण्ठ मुखरित हो उठता है, *'भिखि दे हो हे माई।'* इसी प्रकार एक दूसरे विधानमें है—'**शुभं भूयात्।**' उसके साथ ही सहगानके रूपमें नारी-कण्ठ मुखर हो उठता है—'**शुभे हो शुभे**'।

इस प्रकार शास्त्रोंमें वर्णित सभी संस्कार लोकगीतोंके माध्यमसे आज भी जीवित हैं। गीतोंमें अनेक ऐसे संस्कारोंका भी वर्णन मिलता है, जो अपना शास्त्रीय रूप खो चुके हैं और लोकगीतोंमें अनवरत रूपसे अभी भी चल रहे हैं। गर्भाधानसे लेकर जन्मतकके सभी संस्कार लोकगीतोंमें 'सोहर गीतों' के नामसे प्रसिद्ध हैं और जन्मके बाद 'बधैया' नामसे। इन गीतोंमें कहीं उपचारका वर्णन मिलता है तो कहीं पुत्र-कामनाका। संस्कार-गीतोंको यदि श्रेणीबद्ध किया जाय तो निम्नलिखित विभाजन सम्भव हो सकता है।

(१) जन्म—छठी-पूजन, न्योतन, बधाई, बधैया, सोहर, (२) मुण्डन, (३) जनेऊ—घिउढारी, मङ्गलगान, जनेऊके गीत, (४) विवाह—सगुन, तिलक, लगनचौका, मण्डप, हल्दी, कलश, घिउढारी, पैरपूजी, बन्ना, लावा-छिटाई, कन्यादान, कोहबर, जेवनार, विदाई, समदन, चतुर्थी, गौना आदि।

इन संस्कारोंके अन्तर्गत चलनेवाले व्यवहारोंको लोकभाषामें 'विध' या विधि कहते हैं। शास्त्रोंमें जिसे हम विधान कहते हैं, अधिक सम्भव है, उसीका रूपान्तर लोक-भाषामें विधि हो गया हो। लोकगीतोंमें इन संस्कारोंका ही नहीं, इन विधोंका भी विस्तारसे वर्णन मिलता है। स्थान-भेदसे इन विधोंके नाम और संख्यामें अन्तर पड़ता है, पर उनके अस्तित्वमें कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखता। इन विधोंके अलग-अलग गीत मिलते हैं। यहाँ कुछ संस्कारोंके गीत उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं।

जन्मोत्सवके समयका यह सोहर-गीत कितना मनोहर तथा भावपूर्ण है—

ललना महोदया के रनिया, अंगन बहरायल हे।
ललना, बरसेला मोतिया के बूंद तो देखते सोहावन हे।
सासु जे सुतलन ओसरा, ननद गजओषर हे।
संइया मोरा रंग महलिया, त कहिके जगायहु हे।
विरवा के बोरसी भरावल, लौजिया के पसंध देल हे।
ललना, चंपा के फुलवा महामह देखते सोहावन हे।
आधिरात वीतलई, पहररात बबुआ जलम लेल हे।
ललना बाजे लागल, अनन्द बधावा, महल उठे सोहर हे।
सासु के भेद-बहू महानिया ननदी घर वैरिन हे।
गोतनी घर रउरे परभुवाद महल उठे सोहर हे।
सासु के देवहन खटियवा, ननदी मलोल देवहन हे।
गोतनी के देवहन पलंगिया, हम धनि पाँव तरे हे।

सासु लुटवलन रुपइया, ननदी छेउआ देलन हे।
गोतनी लुटवलन गइया, गोतियाघर सोहर हे।
सासु जे उठलन गावइत, ननदी बजावइत हे।
गोतनी जे उठलन विसमायल गोतियाघर सोहर हे।

सोहर मुख्यत: जन्मोत्सवका गीत है। ऊपरके उद्धरणमें संतान-जन्मसे सास, ननद तथा स्वगोत्रवालोंको जो खुशी होती है, उसका वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

मुण्डन एक संस्कार है। बच्चेके घुँघराले केश ललाटपर लटक रहे हैं। पुत्र मातासे मुण्डन करानेका अनुरोध करता है। माता पण्डितको बुलाकर दिन दिखाकर मुण्डन करानेका आश्वासन देती है—यही भाव निम्न लोक-गीतमें आया है—

बभना बोलायब बाबू गुनायब हो।
पोथिया देखायब तबे करब जगमूड़न हो।
मचिया बैठल तो हे कोसिला अम्माँ हे।
अम्माँ लुपची छेकल लिलार होयत कब मूड़न हे।
झाड़ी बान्हू सम्हारि बाबू रामचंदर बाबू हो।
बाबू होयत दिन सुदिन करब जगमूड़न हो।
हजमा बोलायब, खुर बनायब हो।
बाबू सोने करायब, जगमूड़न हो।

यज्ञोपवीत-संस्कार प्रसिद्ध संस्कार है, जिसे लोग बड़ी धूमधामसे सम्पन्न करते हैं। प्रस्तुत गीतमें उपनयन-संस्कारमें प्रयुक्त होनेवाली सामग्रीका उल्लेख किया गया है। साहीका काँटा, मृगचर्म, पलाशदण्ड, मूँजकी डोरी आदिकी प्राप्तिके प्रयासका वर्णन है—

जेहि देश सिकियो न डोलय, सांप ससरि गेल हे।
ललना ओहि देश गयलन दादा रुआ,
अंगुरीधरि कवन बरुआ हे।
पहिले वे मरवो साहिल, साहिल्य कांटा चाहिला हे।
ललना, तवे हम करवो मुंजिअबा, मुंजिब डोरि चाहिल हे।
ललना, आज मोरा बाबु के जनेउवा,
जनेउवा पीला चाहिलो हे।

विवाह व्यापक संस्कार है, विधि-विधानकी भिन्नताके रहते हुए भी अनेक अर्थोंमें उसकी एकरूपता देखी जाती है। विवाहसे पूर्व मड़वा (मण्डप) बनाते समयका यह गीत कितना सरस और मार्मिक है—***'मड़वा के शुभ दिन आबि गेलै, खरही मड़ाय दियौ ना।'***

इसी प्रकार विवाहिता कन्याको विवाहसे पूर्व उबटन लगानेका यह गीत कितने सहजभावमें व्यञ्जित है—

अपटन लागि रहल सीता तन, दमकए देह रंग सोना सन।
लखि लोचन फल पावह हे, छवि कहल न जाय।
आनंद जनक अंगनमा हे मुसकथि सियमाय।

कन्यादानके अवसरपर गाया जानेवाला यह गीत अपनी सहजतामें पारिवारिक, सामाजिक पृष्ठभूमिको संस्काररूपमें किस प्रकार उपस्थित करता है, इसका सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित गीतमें देखा जा सकता है—

पीयर धोती पहिरि मण्डप पर बैसू जनक ऋषि राज हे।
सिया संग बैसलि माय सुनयना, छथि सभ जुटल समाज हे।
वेद पढ़थि गुरु प्रवर सतानंद, छथि ऋषि ज्ञानक खान हे।
रघुकुल भूषण राम विराजथि, सहित वशिष्ठ महान हे।
प्रमुदित पुर नर नारि, शुभक क्षण, चहुँ दिस मंगलगान हे।
शुभ-शुभ कहि पुनि-पुनि शुभ-शुभ कहि नृपति करू धियादान हे।
सियमुख निरखि-निरखि भए आकुल काँपथि जनक सुजान हे।
पुनि उर धीरज धए मिथिलापति करथि धिया केर दान हे।
सीताक कर दए रामक कर में मुदित विकल मिथिलेश हे।
धन्य जनकपुर, धन्य अयोध्या, पुलकित अवध नरेश हे।
सिसकथि रहि-रहि माय सुनयना, सिया भए गेलि विरान हे।
धीरज धए रहु कहथि सतानंद ई थिक विधिक विधान हे।

इसी क्रममें सिन्दूरदानके समयका यह प्रसिद्ध लोकगीत द्रष्टव्य है—***'कहवाँ के सेनुरिया सेनुर बेचे आयल हे। कवन पुर के वर कामिल, सेनुर बेसाहल हे।'***

इन लोक-संस्कार-गीतोंकी एक और विशेषता है कि ये अपने पूर्वजोंके जीवनके आदर्शों यथा—सेवा, त्याग, कर्तव्य-परायणता, आत्मसमर्पण तथा आत्मनिष्ठाको वर-वधूमें निविष्ट कराकर विवाह-संस्कारकी जीवन्तताको परिलक्षित करते हैं। यही कारण है कि विवाह-संस्कारके गीतोंमें दूल्हेको राम, दुलहिनको सीता, दूल्हेके पिताको दशरथ, दुलहिनके पिताको जनक, दूल्हेकी माँको कौसल्या, दुलहिनकी माँको सुनैनाके रूपमें देखा जाता है। इन्हीं परम्परागत संस्कार-गीतोंके कारण राधा-कृष्ण, राम-सीता, शिव-पार्वतीके जीवनके आदर्श प्रतिमान लोकमानसमें आज भी समाविष्ट हैं। ये संस्कार-गीत प्रत्येक वर-वधूको इन्हीं महापुरुषोंके जीवनादर्शोंपर चलनेके लिये प्रेरित करते हैं।

~~०~~

श्रीरामचरितमानसकी दो विस्तृत हिन्दी-टीकाएँ

अभी भी उपलब्ध—मँगानेमें शीघ्रता करें

मानस-गूढ़ार्थ-चन्द्रिका-हिन्दी-टीका

कोड 1376 (सात खण्डोंमें) मूल्य रु० ७६०

लेखक—प० प० दण्डी स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्दजी सरस्वती

(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

पुनर्मुद्रणकी प्रक्रियामें—प्रकाशन-सूचनाकी प्रतीक्षा करें

मानस-पीयूष-हिन्दी-टीका

कोड 86 (सातों खण्डोंमें) मूल्य रु० ११२५

सम्पादक—अञ्जनीनन्दनशरण

हमारी अन्य शाखाओंपर कुछ सेट उपलब्ध हो सकते हैं।

गीता-दैनन्दिनी सन् २००६ (सं० २०६२-६३)—गोरखपुरमें **'गीता-दैनन्दिनी'** सन् २००६ के प्रायः सभी संस्करण समाप्त हो चुके हैं, किंतु गीताप्रेसकी अन्य शाखाओंपर सीमित संख्यामें उपलब्ध हो सकते हैं।

डॉ० श्रीरामचरण 'महेन्द्र' की उत्कृष्ट रचनाएँ—[छः पुस्तकोंके सेटका डाक एवं पैकिंग खर्चसहित मूल्य रु० १२५]

महकते जीवन फूल	(कोड 55)	मूल्य रु० २०
अमृतके घूँट	(कोड 119)	मूल्य रु० १५
जीवनमें नया प्रकाश	(कोड 59)	मूल्य रु० १५
आशाकी नयी किरणें	(कोड 60)	मूल्य रु० १६
आनन्दमय जीवन	(कोड 120)	मूल्य रु० १३
स्वर्ण-पथ	(कोड 132)	मूल्य रु० १४

छपकर तैयार— **श्रीरामचरितमानस मझला-सटीक [विशिष्ट संस्करण] (कोड 1563), मूल्य रु० ७५**
अच्छी क्वालिटीके अत्यन्त पतले कागजपर छपा यह विशिष्ट संस्करण अब पुनः छपकर तैयार हो गया है, मँगानेमें शीघ्रता करें।

'कल्याण'के पाठकोंसे नम्र निवेदन

फरवरी सन् २००६ ई० का मासिक अङ्क आपके समक्ष है। यह अङ्क उन सभी ग्राहकोंको भी भेजा गया है, जिनको जनवरी सन् २००६ ई० का विशेषाङ्क **'संस्कार-अङ्क'** वी०पी०पी० द्वारा भेजा गया था, लेकिन उसका भुगतान हमें अभीतक प्राप्त नहीं हो सका है। जिन ग्राहकोंकी वी०पी०पी० किसी कारणसे वापस हो गयी है, उनसे अनुरोध है कि **'संस्कार-अङ्क'** की उपादेयताको ध्यानमें रखते हुए रु० १३० (सजिल्दहेतु रु० १५०) मनीऑर्डर/ड्राफ्ट भेजकर पुनः मँगवानेकी कृपा करें।

जिन ग्राहकोंको सदस्यता शुल्क भेजनेके उपरान्त भी उनके रुपयोंका यहाँ समायोजन आदि न हो सकनेके कारण वी०पी०पी०से अङ्क प्राप्त हो गया है, उनसे अनुरोध है कि वे किसी अन्य व्यक्तिको वह अङ्क देकर ग्राहक बना दें और उनका नाम, पूरा पता तथा अपनी ग्राहक-संख्या आदिके विवरणसहित हमें भेज दें, जिससे उन्हें नियमित ग्राहक बनाकर भविष्यमें 'कल्याण' सीधे भिजवाया जा सके। यदि नया ग्राहक बनाना सम्भव न हो तो पूर्व जमा रकमकी वापसी या समायोजनहेतु पत्र भेजना चाहिये।

जिन ग्राहकोंका शुल्क प्राप्त हो गया था, उन्हें **'संस्कार-अङ्क'** रजिस्ट्रीद्वारा जनवरी माहमें भेज दिया गया है। यदि उन्हें अबतक प्राप्त नहीं हुआ हो तो अपने प्राप्ति-स्थान/पोस्टमैनसे जाँच करनेके उपरान्त रकमकी पावतीके साथ सूचना भेजनी चाहिये, जिससे उचित कार्रवाई की जा सके।

व्यवस्थापक—**'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर (उ०प्र०)**

An Appeal

Kalyana-Kalpataru (An English spiritual monthly digest) published by Gita Press, Gorakhpur, is to bring out its **Special issue** as **Divine Līlā Number** in **October 2006.** Learned people who can contribute articles in English on the **Līlās** played by the Lord in His ten incarnations—Matsya (Fish-God), Kūrma (Turtle), Varāha (Boar), Nṛsiṁha (Man-lion), Vāmana (Dwarf), Paraśurāma, Rāma, Kṛṣṇs, Buddha and Kalki—are requested to send their articles as early as possible. They are further requested to subscribe for this magazine quite beneficial and spiritually elevating.

—Editor

रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७
प्र० ति० १-२-२००६
पंजीकृत-संख्या—NP/GR—13/06
LICENCE NO.-WPP/GR-03/2006 | LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT

इस अङ्कका मूल्य रु० ६ मात्र